जैन भारती

अक्टूबर, 2009 • वर्ष 57 • अंक 10 • वार्षिक रु. 200.00

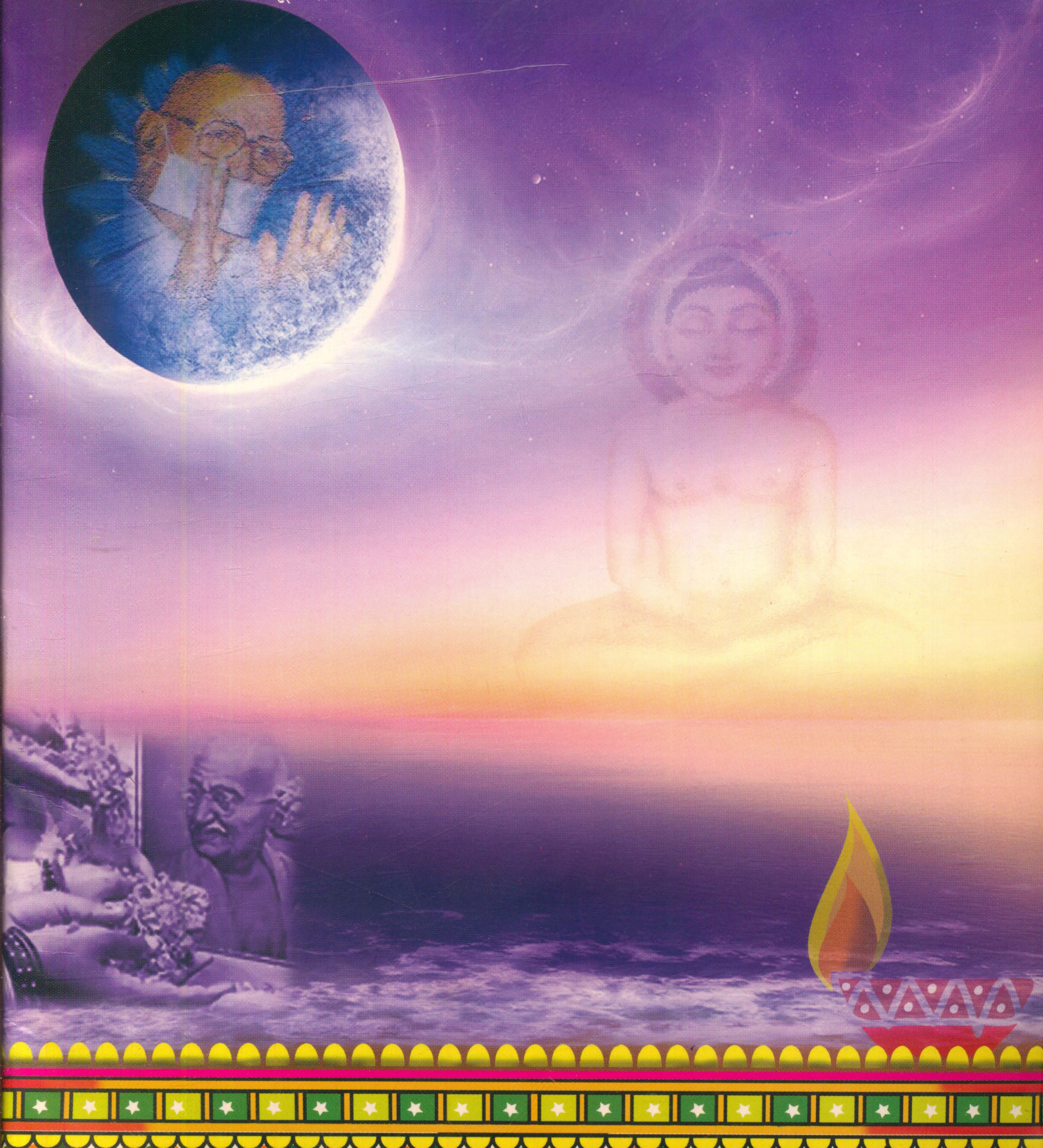

With best compliments from :

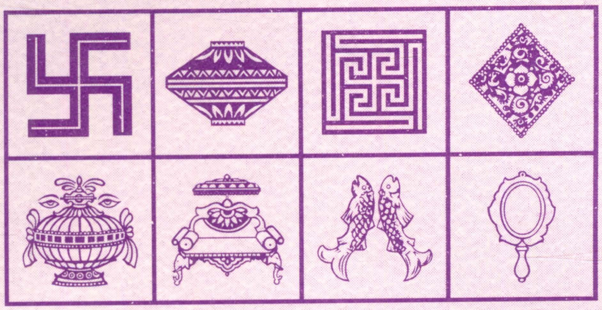

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 अक्टूबर, 2009 • अंक 10

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
शिक्षा : मन के प्रशिक्षण की जरूरत

16
जयप्रकाश नारायण
शिक्षण : जरूरत आध्यात्मिकता व भौतिकता को जोड़ने की

21
प्रो. गोपाल भारद्वाज
अहिंसा : जरूरत सामाजिक सक्रियता की

23
अरविन्द मोहन
धर्म : दीर्घकालिक राजनीति है

•
आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

27
साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा
आचार्यश्री तुलसी : एक आलोक पुंज; एक शताब्दी पुरुष

33
राजेन्द्र अवस्थी
प्रकाशपुंज : दो शब्द चित्र

35
कहानी
ज्योत्स्ना मिलन
अपना घर

40
कविता
मुकेश व्यास की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
अहिंसा के अभिप्राय

शीलन

43
साध्वी जयमाला
आचार्यश्री तुलसी : सत्यम् शिवम् सुंदरम् का विलक्षण संगम

46
बालकथा
रवीन्द्र कालिया
तालीम का मतलब क्या है

रपट

50
बिनोदकुमार चोरड़िया
सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

दूसरे पर रंग तब चढ़ता है

'वैरागी की वाणी सुनने से वैराग्य उत्पन्न होता है'—इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—'कसूंबा स्वयं गलता है, तब वह वस्त्रों को रंग सकता है। कसूंबा की गांठ बांध देने पर भी उसका वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता, क्योंकि वह स्वयं घुला हुआ नहीं है।

'इसी प्रकार शुद्ध मान्यता और आचार वाला वैरागी साधु, जो स्वयं वैराग्य में लीन है, दूसरों पर वैराग्य का रंग चढ़ा देता है।'

मान्यता एक, स्पर्शना भिन्न-भिन्न

कुछ लोग कहते हैं—'साधु का धर्म भिन्न है और गृहस्थ का धर्म भिन्न है।'

तब स्वामीजी बोले—'चौथे गुणस्थान की और तेरहवें गुणस्थान की तत्त्व विषयक मान्यता तो एक है, किंतु उनकी स्पर्शना भिन्न-भिन्न है—चौथे का स्पर्श सम्यग्दृष्टि करता है और तेरहवें का स्पर्श केवली करता है। सचित्त जल में असंख्य जलीय जीव होते हैं और फफूंदी में अनंत जीव होते हैं, इसकी मान्यता एवं प्ररूपणा चौथे, पांचवें, छठे और तेरहवें गुणस्थान वाले सभी करते हैं। किंतु स्पर्शना में अंतर है—चौथे और पांचवें गुणस्थान वाले जल के जीवों की हिंसा करते हैं और साधु के उन जीवों की हिंसा करने का त्याग होता है। यह स्पर्शना चौथे और पांचवें गुणस्थान से भिन्न है।'

'हिंसा में पाप होता है—उसकी मान्यता और प्ररूपणा चौथे, पांचवें, छठे और तेरहवें गुणस्थान वाले सभी करते हैं, इस दृष्टि से मान्यता तो एक है। किंतु चौथे और पांचवें गुणस्थान वाले हिंसा करते हैं और साधु के हिंसा का त्याग होता है, इस दृष्टि से स्पर्शना भिन्न-भिन्न है, पर मान्यता भिन्न नहीं।'

'चौथे और तेरहवें गुणस्थान वालों की मान्यता एक है। यदि चौथे गुणस्थान वालों की मान्यता तेरहवें गुणस्थान की मान्यता से भिन्न हो जाए, तो वह पहले गुणस्थान में चला जाए—मिथ्यादृष्टि हो जाए।'

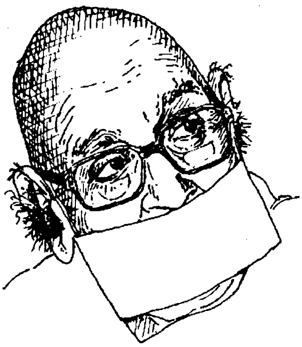

पांच इंद्रियों और मन की चेतना के विभिन्न स्तर होते हैं। हम उनके द्वारा विभिन्न रूपों में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, पर इन पांच इंद्रियों और मन की यह चेतना स्थूल चेतना है। स्थूल चेतना पुद्गल सापेक्ष होती है। जैसे किसी व्यक्ति की आंख चली गई तो वह देख नहीं सकता, यद्यपि देखने की शक्ति उसमें विद्यमान है। तथापि पौद्गलिक यंत्र के खराब हो जाने से उस शक्ति का कोई उपयोग नहीं होता। इसलिए तात्त्विक चर्चा में हम अचक्षु आदमी के भी इंद्रियां तो पांच ही स्वीकार करते हैं। वास्तव में हमें ऊपर से जो इंद्रियां दिखाई देती हैं, वे तो उनका पोद्गलिक आकार है जबकि इंद्रियों में ज्ञान करने की चेतना अंदर विद्यमान होती है, पर वह चेतना पौद्गलिक उपकरणों (इंद्रियां और मन) की सहायता के बिना अपना काम नहीं कर सकती, इसलिए उसे स्थूल चेतना माना गया है।

उस स्थूल चेतना के अतिरिक्त एक सूक्ष्म चेतना और है। वह सूक्ष्म चेतना पुद्गल सापेक्ष नहीं है। यानी उस चेतना को अपना काम करने में पौद्गलिक उपकरणों (इंद्रिय और मन) की अपेक्षा नहीं होती। वह आत्मा के स्तर पर अपना कार्य करती है। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये तीनों उसी कोटि में आते हैं। जबकि मतिज्ञान और श्रुतिज्ञान का समावेश स्थूल चेतना में है।

— **आचार्यश्री तुलसी**

आत्म-दर्शन करना एक सरल मार्ग भी है और कठिन मार्ग भी है। सरल मार्ग इसलिए है कि राग-द्वेष के छूटते ही आत्म-साक्षात्कार हो जाते हैं और कठिन मार्ग इसलिए है कि राग-द्वेष को छोड़ना आसान काम नहीं है। आत्मा को पाने के लिए बहुत तपना पड़ता है, खपना होता है, साधना करनी होती है और मन को इतना पवित्र बनाना होता है कि 'अमन' की अवस्था प्राप्त हो जाए।

आत्मा को देखना बहुत ऊंची बात है। आत्म-दर्शन से पहले आदमी इतना-सा प्रयास करे कि वह अपनी कमियों को पहले देखना शुरू कर दे। जो आरोपण दूसरों पर किया जाता है, वह यदि स्वयं पर किया जाए तो समाधान का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। आदमी को विकास करना है, तो स्वयं की कमियों को देखना ही होगा और उन्हें अनुभव कर के दूर करने का प्रयास भी करना होगा। यह एक प्रकार का 'स्वयं का दर्शन' है। गुरुदेवश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आत्म-दर्शन के लिए ध्यान की एक विधि निदर्शित की, वह है—प्रेक्षाध्यान। ध्यान के द्वारा आदमी चंचलता से स्थिरता की ओर आगे बढ़ सकता है। वह बाहर से भीतर की ओर प्रस्थान करता है। प्रवृत्ति से निवृत्ति में आता है। भोग से योग की ओर अग्रसर होता है। अंधकार से प्रकाश की ओर प्रस्थान करता है। अनेक लोग ध्यान के अभ्यास के द्वारा अपनी समस्याओं से मुक्ति पाते हैं और अध्यात्म की दिशा में प्रवर्द्धमान बनते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का एक सूक्त है—'रहो भीतर, जीओ बाहर।' आदमी बाहर जीता है, क्योंकि व्यवहार को निभाना है, किंतु बाहर के व्यवहार को निभाते हुए भी आदमी भीतर में रहना सीखे। जो कुछ हो रहा है, उसे देखना सीखे। ज्ञाता-द्रष्टा का भाव विकसित करे।

—**युवाचार्यश्री महाश्रमण**

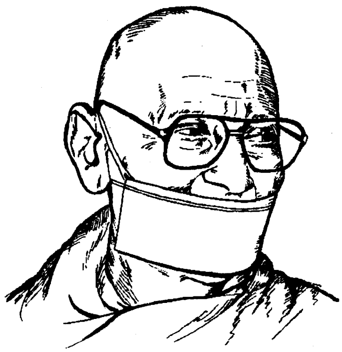

स्वस्थ समाज की संरचना की चर्चा बहुत प्रिय है, पर उसे संभव बनाने के लिए आवश्यक है कि नए मनुष्य का जन्म और नई पीढ़ी का निर्माण हो।

नई पीढ़ी का निर्माण करने के लिए नई दिशा की खोज और नए जीवन-दर्शन की व्याख्या करनी होगी। इस नई दिशा का सूत्र होगा—भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का संतुलन। इसी तरह नए मनुष्य के जन्म का सूत्र होगा—आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का जन्म। केवल भौतिकता की दिशा में चलने का परिणाम है—नैतिकता का ह्रास, मानवीय संबंधों में कटुता और संहारक शस्त्रों का निर्माण। इस स्थिति को नई दिशा का निर्माण करके ही बदला जा सकता है।

केवल आध्यात्मिकता से जीवन के लिए उपयोगी साधन-सामग्री नहीं जुटाई जा सकती और केवल भौतिकता से भी जीवन अच्छा नहीं चल सकता। अतः सामाजिक मनुष्य के लिए भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों में संतुलन स्थापित करना अपेक्षित है।

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिक शोधों ने अनेक-अनेक अंधविश्वासों का उन्मूलन किया है और अब धर्म और अध्यात्म को भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना जरूरी है। धर्म और अध्यात्म का पहला सूत्र है—सम्यक् दृष्टिकोण। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का हृदय है—सत्य की खोज निरंतर चालू रहे, खोज का दरवाजा बंद न हो। सम्यक् दृष्टिकोण का मर्म भी यही है। धर्म का दूसरा सूत्र है—सम्यक् आचरण। यह भौतिक विज्ञान का विषय नहीं है। केवल सत्य की खोज का दृष्टिकोण जीवन विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए सम्यक् आचरण का पक्ष बहुत जरूरी है। आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का अर्थ होगा—वह व्यक्ति, जिसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, सत्य की खोज के लिए वह समर्पित है और जिसका आचरण आध्यात्मिक है। ये दोनों पक्ष व्यक्तित्व को सर्वांगीण बनाते हैं। केवल आध्यात्मिक और केवल वैज्ञानिक—इस विभाजन ने अनेक समस्याएं उत्पन्न की हैं। कोई केवल आध्यात्मिक है और दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं है, तो उसमें रूढ़िवाद और अंध-विश्वास पनप जाते हैं। केवल वैज्ञानिक है, तो उसमें मानसिक असंतुलन, असंतोष और पदार्थाभिमुखता आदि पनप जाते हैं। नई पीढ़ी में यह विभाजन रेखा समाप्त होनी चाहिए। एक ही व्यक्ति आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—दोनों होना चाहिए।

—**आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

प्रसंग

अहिंसा के अभिप्राय

दोनों ही स्थितियों में, चाहे हिंसा के बरअक्स अहिंसा को एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करने की बात हो और चाहे धर्म-ध्वजा को और ऊंचा फहराने की बात हो—यदि अहिंसा का इतना भर अभिप्राय रहेगा, तो यह इसकी साधना कहना उचित नहीं होगा। अहिंसा के अभिप्राय इन बातों से कहीं अधिक गहरे और व्यापक हैं और लगता है कि या तो हम इस ओर स्पष्ट नहीं हैं, या फिर इन्हें अंगीकार करना हमारी क्षमता से परे की बात है। लगता ही नहीं, बात भी सचमुच यही है कि अहिंसा को आत्मसात कर लेना आज के मनुष्य की औकात में नहीं है। इसीलिए हम इस पर बात भर करके बैठ जाते हैं। इसीलिए जितनी अधिक बात होती है, उसी अनुपात में कहीं अधिक हिंसा के संसाधन जुटाने के लिए हम तत्पर रहते हैं। पूरी दुनिया की सरकारों के सालाना बजट से इस कथन की पुष्टि हो सकती है। खुद भारत—जहां गांधी जन्मे—के बजट की भी यही स्थिति है। विश्व स्तर पर जो हालात बने हुए हैं और जिन विकट हालातों से भारत घिरा हुआ है—उनके चलते ऐसा होना भारत की विवशता भी कही जा सकती है। दो अक्टूबर (2007) का दिन जब अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस घोषित हुआ, तो माना गया कि अब तो अहिंसा की दृष्टि से कुछ ठोस होगा ही, पर हुआ क्या? हम देख सकते हैं।

हमें यह देखना जरूरी है कि इन दो सालों में क्या ऐसा कुछ करने की प्रतिबद्धता भी कहीं दिखाई दी कि हम अहिंसक समाज संरचना के प्रति थोड़े आश्वस्त हो सकें? हमारी स्थिति कुछ अधिक ही निराश होने जैसी है। यदि गांधी-दृष्टि से अहिंसा का अभिप्राय देखें तो हमें अपना बौनापन स्पष्ट नजर आता है। महात्मा गांधी मानते हैं कि—'जैसे हिंसा की तालीम में मारना सीखना जरूरी है, उसी तरह अहिंसा की तालीम में मरना सीखना पड़ता है। हिंसा में भय से मुक्ति नहीं मिलती, किंतु भय से बचने का इलाज ढूंढ़ना पड़ता है। अहिंसा में भय के लिए स्थान ही नहीं है। भयमुक्त होने के लिए अहिंसा के उपासक को उच्च कोटि की त्यागवृत्ति विकसित करनी चाहिए। चाहे जमीन जाए, धन जाए, शरीर भी जाए, लेकिन इसकी वह परवाह ही न करे। जिसने सब प्रकार के भय को नहीं जीता, वह पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकता।'—महात्मा गांधी की इस कसौटी पर चढ़ना कठिन है। यह बात आज तो सही है ही, पर स्वयं गांधी के जीवनकाल में वे भी इसे क्या आसान मानते थे? बेशक गांधी के बल के बूते उनकी राह पर लोग चल जाते थे और इसका प्रमाण हम उनके जीवन की अनेक

घटनाओं में देख सकते हैं। नमक बनाने के लिए उनका 'दांडी मार्च' और फिर समुद्र के किनारे का दृश्य हम याद करें तो मानेंगे कि उनकी राह पर चलने के लिए तब जनता-जनार्दन प्रतिबद्ध हो जाती थी। आज न गांधी सा राहगीर है और न उस ओर चलने के लिए उन्मुख लोग। इसीलिए हमने कहा कि अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस घोषित होने से लेकर अब तलक हमने मात्र बात भर की है। इससे आगे कुछ नहीं।

अहिंसा के अभिप्राय को समझने और आत्मसात करने के लिए हमें अनुकरण से कहीं अधिक यह देखना जरूरी है कि वह हमारी अस्मिता का अंग बने। ऐसा होना न केवल अहिंसा के अभिप्राय को समझना भर होगा, बल्कि उसके मर्म को समझते हुए उसे आत्मसात करना भी समझा जाएगा और अहिंसा जब हर-एक की अस्मिता का अंग हो जाएगा तो धन या जमीन या शरीर की सुरक्षा-असुरक्षा जैसी बातों के लिए स्थान ही नहीं रहेगा। मैं दूसरों की अस्मिता को ठेस नहीं पहुंचाऊंगा, तो मेरी अस्मिता स्वतः कायम रह सकेगी। जिस उच्च कोटि की त्यागवृत्ति के विकसित होने की बात महात्मा गांधी ने कही है, वह तभी आ सकेगी। पर, ऐसा संभव तभी है, जब हमारा विवेक और प्रज्ञा पूर्ण जाग्रत हो। भगवद्गीता में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस संसार में ज्ञान जैसी पवित्र, अर्थात् शुद्ध करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हम जिस प्रज्ञा और विवेक की बात कहते हैं, वह ऐसे ही ज्ञान से उपज सकती है। अहिंसा के लिए ऐसे ही ज्ञानपूर्वक आचरण की आवश्यकता है।

ज्ञान और आचरण के प्रसंग पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का एक मंतव्य हमारे लिए दिशाबोधक है। वे ज्ञान और आचरण के युगल या उसकी गहरी आबद्धता को आवश्यक मानते हैं, इसे बंटा हुआ नहीं चाहते। कहते हैं—जहां ज्ञान और आचरण बंट जाता है, विभक्त हो जाता है—तो वह ज्ञान सम्यक् नहीं होता और आचरण भी सम्यक् नहीं होता। उनका स्पष्ट मत है कि—'जहां ज्ञान सत्य हो गया, यथार्थ हो गया, वहां ज्ञान और आचरण की दूरी मिट गई। तब ये दोनों साथ-साथ चलेंगे।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को एक ही रूप में देखते हुए कहते हैं—'ज्ञान और दर्शन यदि सम्यक् हैं तो आचरण भी सम्यक् ही होगा।' वे इसे रत्न-त्रयी कहते हैं और मानते हैं कि इसी त्रिपदी से अहिंसक समाज संरचना संभव हो सकती है।

इस दृष्टि से विश्व स्तर पर एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय काम हुआ है। अहिंसा के अभिप्राय को समझने के लिए हमें उस ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए। मानवाधिकारों के लिए विश्व-देशों की आपसी समझ को विकसित करने के लिए अब तक उठाए गए कदमों को हमें इस दृष्टि से देखना चाहिए और इस 'प्रसंग' में जो बात शुरुआत में उठाई गई है, उसी के संदर्भ में यह समझना चाहिए कि इस दिशा में हमारी चिंताएं एकदम ही न रही हों—सो बात नहीं है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 10 दिसंबर, 1948 को जिन मानवाधिकारों की घोषणा की और वर्ष 1995-2004 का दशक 'मानवाधिकार दशक' के रूप में घोषित हुआ—आज की विषम परिस्थितियों के चलते मानवाधिकारों के सभी अनुच्छेद अहिंसा के अभिप्राय को ही स्पष्ट करते हैं। भारत सहित अनेक राष्ट्रों ने इस 'मानवाधिकार घोषणा-पत्र' पर हस्ताक्षर कर अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की है। इस घोषणा-पत्र को हम अहिंसक समाज संरचना की तजवीज के रूप में उठाया गया एक रचनात्मक कदम मान सकते हैं। पर, अभी भी यह मानना चाहिए कि इन 'मानवाधिकारों' के प्रति हमारी सरकारें और सक्षम लोग पूरी तरह प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे पूरी तरह जवाबदेह बनें और अपने दायित्वों को मानवाधिकारों की रक्षा से जोड़ें—इसकी आवश्यकता है। यदि इतना हो जाए तो अहिंसा का अभिप्राय सिद्ध होता हुआ नजर आ सकता है। इस बार अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस पर इस दृष्टि से विचार होना चाहिए।

—शुभू पटवा

[अक्टूबर का यह माह इस बार अनेक दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लोक और अध्यात्म, श्रद्धा और उल्लास का समान रूप इस पूरे महीने में हमारे सम्मुख है। दीपावली पर्व (17 अक्टूबर), भगवान महावीर परिनिर्वाण (18 अक्टूबर), आचार्यश्री तुलसी जन्मोत्सव (20 अक्टूबर) और साथ ही महात्मा गांधी जयंती (2 अक्टूबर) जैसे पर्व इसी महीने में हैं। ये सभी अवसर हमारे बाह्य और अंतस के उजास के प्रेरक अवसर हैं। लोकनायक जयप्रकाश नारायण की जयंती (11 अक्टूबर) और समता तथा स्वाभिमान के उन्नायक डा. राम मनोहर लोहिया की पुण्यतिथि (12 अक्टूबर) भी इसी माह में हैं। इस लोक के ये हमारे आलोक स्तंभ हैं। एक साथ आए इन सभी अवसरों का स्मरण हम सभी के लिए उत्प्रेरक हो। — सं.]

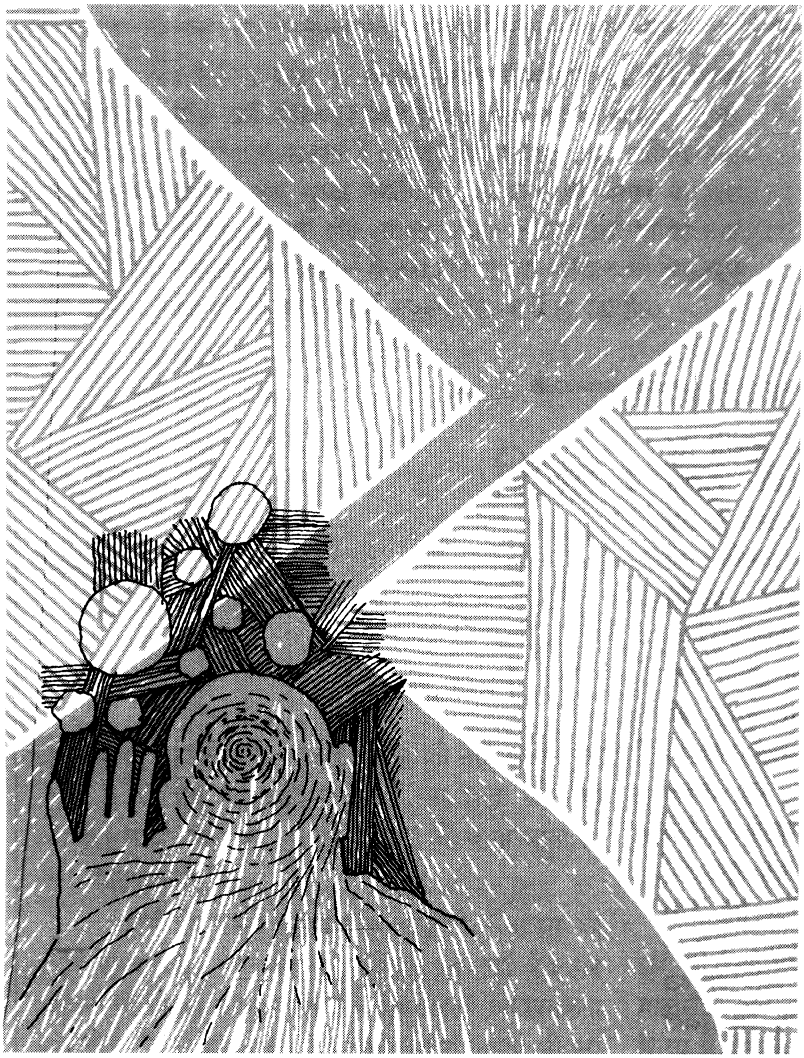

विमर्श

यह कहना कि—'आत्मा प्राकृतिक मानव की सांस्कृतिक यात्रा में उत्पन्न हुआ उसका परिष्कृत स्वबोध है'—तभी अर्थ रखता है जब संस्कृति मनुष्य की वास्तविक प्रकृति को पहचाने। मनुष्य की वास्तविक प्रकृति औपाधिक, भौतिक-जैविक प्रकृति मात्र नहीं है, जिसकी प्रकृति का ज्ञान विज्ञान के द्वारा होता है। तब स्वाभावतः ये लोग उसका सुधार भी वैज्ञानिक रूपांतरण के द्वारा ही संभव मानेंगे। इसी से जीव वैज्ञानिक मनुष्य के बीज-संस्कारों को उसी प्रकार बदलना चाहते हैं, जैसे गायों को मांसाहारी बना कर उनके दूध को अधिक पौष्टिक बनाना चाहते हैं। इस एक सीमित क्षेत्र में जनन-कणीय उपाय पशुओं और पौधों में उपयोगी माने गए हैं और मनुष्य में कुछ रोगों की चिकित्सा के लिए भी उनसे आशा की जाती है। किंतु, असंतुलित जनन-कणीय प्रयोग भयावह हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक रासायनिक द्रव्यों के द्वारा कुछ मनोरोगों का निवारण करने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर वे मस्तिष्क के प्रतिमान पर संगणक बना रहे हैं। किंतु, मानव-सुधार की इन सभी योजनाओं में मानव-चरित्र के निर्माण का पक्ष प्रबल नहीं है, न इनमें कहीं उन्नत आदर्शों की साधना की बात है, सिवाय इस दुराशा के कि कंप्यूटर कभी प्रतिभा का स्थान भी ले लेंगे।

—गोविन्दचन्द्र पांडे

शिक्षण-संस्थान शिक्षित करने का पचास प्रतिशत कार्य करें और शेष पचास प्रतिशत कार्य करें—धर्म-संस्थान। दोनों के मिले-जुले प्रयत्नों से एक अद्भुत व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है। परंतु, धर्म-संस्थान यह दायित्व उठा पाएंगे—यह बात भी कुछ दुरूह लगती है। अध्यात्म को जगाने के लिए जितनी गहरी निष्ठा, जितनी तीव्र साधना, त्याग और तपस्या चाहिए तथा जितने शक्तिशाली उपक्रम चाहिए—वे नहीं होंगे तो धर्म-संस्थान भी वैसा नहीं कर पाएंगे। आज धर्म के संस्थानों में सचमुच वैसा नहीं हो रहा है।

दो अंकों में समाप्य
लेख की दूसरी
व
अंतिम कड़ी

शिक्षा : मन के प्रशिक्षण की जरूरत

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

शिक्षा ज्ञेय की होती है, ज्ञाता की नहीं होती। हम ज्ञेय को बहुत जानते हैं, पर ज्ञाता को नहीं जानते। जानने वाले को हम नहीं जानते, जो जाना जाता है, उसे बहुत जानते हैं।

आदमी के सामने पहला प्रश्न आता है—आहार का और शरीर का। यह अनावश्यक प्रश्न भी नहीं है। यह जीवन की पहली आवश्यकता है। जब पहली आवश्यकता पूरी होती है, तो जीवन की शेष सभी आवश्यकताएं भी पूरी हो जाती हैं।

अतः पहला प्रश्न है—भोजन और शरीर। शिक्षा का ध्यान भी इसी पर सर्वाधिक रहा है। भोजन और शरीर ने ही मनुष्य का यह रास्ता प्रशस्त किया कि प्रत्येक आदमी आजीविका प्राप्त कर सके, जीवन-यात्रा का निर्वाह कर सके, शरीर को पोषण दे सके, भोजन की सामग्री जुटा सके। किंतु, मनुष्य शरीर मात्र नहीं है। शरीर है, प्राण है, इंद्रियां हैं, भाषा है, मन है, बुद्धि है। इतना तो दृश्य है। अदृश्य इससे भी बहुत बड़ा है। उसे हम एक बार छोड़ दें। यह मान कर कि अदृश्य पर किसी का विश्वास जमता है और किसी का नहीं भी जमता, किंतु दृश्य-जगत भी कम छोटा नहीं है। मन की सत्ता बहुत बड़ी है। बुद्धि का साम्राज्य बहुत विशाल है। इंद्रियों की शक्ति बहुत विपुल है। भाषा और प्राण का बल भी अन्यून है। ये सब हमारे सामने हैं। तब क्या शिक्षा मात्र इतनी ही है कि जिससे शरीर को पोषण मिले और उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जाएं? यह नहीं हो सकता।

शिक्षा का क्षेत्र इतना सीमित नहीं है। शिक्षाविदों ने इस पर ध्यान भी दिया है। शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक और बौद्धिक विकास भी शिक्षा का अंग है। शिक्षा में इसकी पूरी समायोजना है। चाहते हैं कि एक बच्चे का शारीरिक विकास भी हो, मानसिक विकास भी हो और बौद्धिक विकास भी हो। इससे आगे कोई व्यवस्था नहीं है। कैसे करें? जो शिक्षाशास्त्री हैं, वे भी तो इसी दुनिया के प्राणी हैं—जिस दुनिया में विद्यार्थी जीते हैं, अभिभावक जीते हैं और दृश्य-जगत की पूरी कल्पना के साथ जीते हैं। दृश्य-जगत से परे उनकी कोई योजना नहीं हो सकती, कोई व्यवस्था नहीं हो सकती और वे कर भी नहीं सकते। जीवन-यात्रा के लिए यह मान लिया गया है कि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास पर्याप्त है। लेकिन, यह मानना भ्रांतिपूर्ण है, अधूरा है। पर, मान लिया गया है।

बड़ा आश्चर्य है कि जो मूल है, वह बेचारा दुख पा रहा है, रो रहा है और जो गौण है, सहायक है—वह अपना पूरा आधिपत्य जमाए बैठा है। 'ज्ञाता' मूल है। जानने वाला

मूल है। यदि इस दुनिया में जानने वाला न हो तो पदार्थ पदार्थ ही रहेगा, उसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आ पाएगा। सारे परिवर्तन 'ज्ञाता' करता है। ज्ञाता है—मनुष्य। सभी परिवर्तनों का घटक है—मनुष्य। सारे परिवर्तन प्राणी करता है। इस स्थूल दुनिया का विकास प्राणी ने किया है। प्राणी चाहे छोटा हो या बड़ा, उसमें परिवर्तन की क्षमता होती है। प्राणी ने इस जगत को दृश्य बनाया है। यह दृश्य-सृष्टि प्राणियों की संरचना है। जितने पहाड़ बने हैं, वे प्राणियों द्वारा निर्मित हैं। पानी और अग्नि प्राणियों द्वारा निर्मित हैं। हवा प्राणियों के आधार पर चलती है। सारा वनस्पति-जगत प्राणियों की देन है। जो चल-जगत है—दो इंद्रिय वाले प्राणियों से लेकर पांच इंद्रिय वाले प्राणियों तक—वह इस दुनिया का निर्माता है। ये प्राणी ही सृष्टि की सर्जना कर रहे हैं। यदि ईश्वर को इस अर्थ में सृष्टि का कर्ता माना जाए तो वह गलत नहीं है। सृष्टि का कर्ता तो कोई न कोई है ही। बिना किए कोई चीज बनती नहीं। जहां करने की क्रिया है, वहां कर्ता अवश्य ही है। बिना कर्ता कोई चीज कैसे बनेगी? कर्ता अवश्य ही है, पर अंतर इतना ही है कि वह कर्ता कोई एक शक्ति नहीं है, एक सत्ता नहीं है, किंतु अनगिनत सत्ताएं और अनंत शक्तियां हैं—जो हमारी सृष्टि का निर्माण करती हैं। यदि एक ज्ञाता न रहे, एक प्राणी न रहे, एक चेतन-सत्ता न रहे तो फिर कोरा अंधकार ही अंधकार होगा, प्रकाश का प्रश्न ही नहीं उठेगा। प्रकाश की सारी परिकल्पना प्राणी ने की है। प्रकाश का सारा विकास प्राणी ने किया है। दुनिया में जो कुछ प्रकाश की किरणें हैं, वे सब प्राणियों की ही देन हैं।

आश्चर्य इस बात का है कि हमारे जगत की जो मूल सत्ता है—चेतन सत्ता है, प्राणी की सत्ता है—उसके विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है, अपने स्वयं के बारे में कोई जानकारी नहीं है, 'ज्ञाता' के बारे में कोई जानकारी नहीं है और 'ज्ञेय' के विषय में दुनिया भर की जानकारी है। यह इस सत्य का द्योतक है कि जो मूल है, वह बेचारा दर-दर का भिखारी बन कर भीख मांग रहा है और उसका प्रतिबिंब हजारों में बिक रहा है। बिंब रो रहा है, प्रतिबिंब हंस रहा है।

एक युवा चित्रकार था। उसके मन में एक विचार आया कि एक युवती का ऐसा सुंदर और स्वाभाविक चित्र बनाऊं कि जो कलापूर्ण, गरिमापूर्ण, प्रभावी और वास्तविक हो। चित्रांकन के लिए ऐसी ही उपयुक्त युवती की खोज में वह नगर-नगर में घूमता रहा। सर्वत्र उसे कृत्रिम सौंदर्य ही मिला, पर वह निश्छल और यथार्थ सौंदर्य की टोह में महीनों तक घूमता रहा। नगरों की चकाचौंध को छोड़, वह एक गांव में आया। मार्ग में उसने एक युवती को देखा। उसकी आंखें उसके निश्छल और स्वाभाविक सौंदर्य पर अटक गईं। उसने उस युवती का रेखांकन किया। उसमें स्वाभाविक रंग भरे और वह चित्र सजीव युवती का बोधक हो गया।

कुछ महीनों बाद एक बड़े शहर में उसके चित्रों की प्रदर्शनी लगी। उसमें अनेक प्रकार के चित्र सजाए गए। उस युवती का चित्र भी उस कक्ष में रखा गया। चित्रों की प्रदर्शनी को देखने के लिए हजारों लोग आए। उस युवती के चित्र को देख कर लोग मंत्रमुग्ध रह जाते। वह चित्र सबकी आंखों में समा गया। कुछ लोग उसे खरीदने के लिए उतावले हो उठे। उस चित्र पर बोली लगी और एक साहूकार ने उसे दस हजार रुपये में खरीद लिया।

विचित्र होता है—भाग्य! दुर्दिनों की मारी वही ग्रामीण युवती भीख मांगने के लिए उसी चित्र-प्रदर्शनी के द्वार पर बैठी थी। वह आने-जाने वालों के सामने हाथ पसार कर भीख मांगती, पर किसे पता था कि वह कौन है!

उसी युवती के आकर्षक चित्र को हाथ में लिए सेठ बाहर निकला। युवती ने भीख मांगते हुए हाथ पसारा। सेठ ने उसे दुत्कार दिया। उसे यह ज्ञात नहीं था कि जिस चित्र को उसने दस हजार रुपयों में खरीदा है, वह इसी युवती का है। प्रतिबिंब दस हजार में बिक रहा है और बिंब या मूल दो पैसों के लिए दुत्कार पा रहा है। यह दुनिया का आश्चर्य है कि यहां मूल बेचारा है, आंसू बेचारा है और उसकी छाया, उसका प्रतिबिंब हजारों के मूल्य में बिकता है।

आज की शिक्षा की परिक्रमा करें, हमें ऐसा ही कुछ होता नजर आएगा।

हम इस तथ्य को जानते हैं कि सारी विद्याओं का कोई एक आदमी ज्ञाता नहीं हो सकता। किसी एक द्वारा अपने पूरे जीवन में सारी विद्याएं नहीं जानी जा सकतीं। हमारी इस दुनिया में इतनी विद्याएं हैं कि जिनकी गिनती करना भी कठिन है। हजारों प्रकार के शिल्प हैं, हजारों कलाएं हैं, हजारों विद्याएं हैं। एक आदमी इन सबको कैसे जान सकता है? यदि ऐसा होता तो समाज कभी नहीं बनता। समाज इसीलिए बना कि व्यक्ति अकेला कभी जी नहीं सकता। समाज है, सहारा है, इसलिए वह जी रहा है। इसलिए यह मानना होगा कि मनुष्य को अनेक विद्याओं की जरूरत होती

है और शिक्षा-शास्त्रियों ने अनेक विद्याओं का विकास भी किया है।

तो फिर एक प्रश्न उठता है कि हम चर्चा क्यों करते हैं कि आज शिक्षा-प्रणाली में कोई कमी है? बार-बार यह स्वर क्यों उभरता है? जो शिक्षाशास्त्री हैं, वे भी यह कहते हैं कि हमारी शिक्षा पद्धति समुचित नहीं है। राजनेता भी यही कहते हैं। पर, वह समुचित या अच्छी क्यों नहीं है—यह कोई नहीं जानता-बताता। शिक्षा में क्या कमी है, यह कोई नहीं बता पाता। कमी को कैसे पूरा किया जाए, इसे कोई नहीं जानता। यदि वे जानते तो आज तक ठीक हो जाता। इतने वर्षों में शिक्षा से संबंधित कितने आयोग बैठे, पर आज तक कोई समाधान नहीं मिला। यह शिक्षा जगत की बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या में अध्यात्म भी जुड़ा है, ध्यान और साधना भी जुड़ी हुई है।

आज सबसे बड़ी कमी, जो अनुभव में आ रही है—वह यह है कि आज के आदमी में अनुशासन नहीं है। प्रयत्न होता है कि विद्यार्थी में अनुशासन आए। कोई भी सत्ताधीश यह नहीं चाहता कि विद्यार्थियों में अनुशासन न आए। पिता भी यह नहीं चाहता कि घर में अनुशासन न हो। गुरु भी यह कभी नहीं चाहता कि शिष्य अनुशासन में न रहें। प्रत्येक व्यक्ति अनुशासन चाहता है। इतनी चाह होने पर भी अनुशासन नहीं आ रहा है। यह बहुत बड़ी समस्या है। शिक्षा के माध्यम से मानसिक और बौद्धिक विकास होता है, पर अनुशासन का विकास नहीं होता। क्यों नहीं होता, इस पर भी हम ध्यान दें। अनुशासन आता है बुद्धि से परे और शिक्षा रह जाती है बुद्धि की सीमा में ही। एक वह तट है, और दूसरा है—यह तट। अब इस तट पर खड़ा आदमी यह चाहे कि वह तट यहां आ जाए, यह कभी संभव नहीं है। दो तट कभी आपस में मिलते नहीं। हमारे सम्मुख भी दो तट हैं—एक है बौद्धिकता का तट और दूसरा है अनुशासन का तट। बौद्धिकता में ज्ञान की सारी प्रक्रियाएं आ जाती हैं। मन का विकास हो, चाहे इंद्रियों का विकास हो—यह इसी तट की बात है। दूसरा तट है—अनुशासन का। इन दोनों के बीच जीवन की धारा बहती है। जब तक आदमी इस तट को छोड़ कर उस तट पर नहीं पहुंचेगा, तब तक अनुशासन नहीं आएगा। उसका आना कभी संभव नहीं लगता।

यह देख कर आश्चर्य होता है कि पढ़ा-लिखा आदमी भी क्रोध करता है। पढ़ा-लिखा आदमी भी बेईमानी करता है, चोरी करता है, दूसरों को कष्ट देता है। पर, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है—क्योंकि वह पढ़ा-लिखा है, उसमें बुद्धि का विकास हुआ है और बुद्धि का यह काम ही है। बुद्धि से तर्क पैदा होता है और तर्क सिखाता है—अपना घर भरना, दूसरे को धोखा देना। यह उसके लिए असंभव नहीं है। ये सब बुद्धि की सीमा में आने वाले कार्य हैं। तब आश्चर्य क्यों होता है? एक बुद्धिमान व्यक्ति, एक विद्वान या न्यायशास्त्री ये सारे कार्य करते हैं, तो फिर आश्चर्य जैसा क्या है? एक व्यापारी यदि 'स्मगलिंग' करता है, मिलावट करता है, एक राज्य-कर्मचारी यदि रिश्वत लेता है—तो हम बुरा मानते हैं। पर, बुरा क्यों है? उन्हें जो अनुशासन मिला है, उसकी सीमा में ये सारे कार्य होते रहे हैं, इन्हें अवैध कैसे मानें? ये सारी बातें बुद्धि की सीमा में विहित हैं, अविहित नहीं हैं। फिर आश्चर्य कैसा?

आश्चर्य का स्वर आता है—दूसरे तट से। हम दूसरे तट पर खड़े होकर ऐसी बात करते हैं। यह भी बहुत बड़ा आश्चर्य है। यह सारा हमारा भावपक्ष है। एक व्यक्ति क्रोधी है, एक अभिमानी है। एक व्यक्ति हीनभावना से ग्रस्त है और एक व्यक्ति अहं से ग्रस्त है। एक व्यक्ति कायर है और एक व्यक्ति साहसिक है। एक लड़ाकू है। ये जितने भी आवेग हैं, ये जितनी भी तरंगें हैं—ये उस तट को छूकर आ रही हैं। एक अविकसित बालक भी इन भाव-तरंगों से प्रभावित हो जाता है।

एक छोटी बच्ची स्कूल से घर जल्दी आ गई। मां ने पूछा—'अरे, इतनी जल्दी कैसे आ गई? अभी तो छुट्टी का समय नहीं हुआ है?' बच्ची ने कहा—'मम्मी! मैंने राखी को पीटा था, अतः दीदी ने मुझे स्कूल से निकाल दिया।' मां ने पूछा—'तूने राखी को क्यों पीटा?' वह बोली—'मां! मुझे घर जल्दी आना था।'

छोटा बच्चा भी भाव से प्रभावित हो जाता है। वह भावना से परे नहीं जा सकता। मन की चंचलता, बुद्धि के गलत निर्णय, इंद्रियों की चंचलता—ये सारे अपने आप में दोषी नहीं हैं। इनमें न मन का दोष है, न बुद्धि का दोष और न इंद्रियों का दोष है। इनका दोष भी नहीं है, अदोष भी नहीं है। जितने दोष या अदोष, बुराई और अच्छाई आती है—वह उस तट से आती है। अच्छाई भी आती है, तो उस तट से आती है और बुराई भी आती है, तो उस तट से आती है। आज की शिक्षा का लंगड़ापन यह है कि हम इस 'तट' के बारे में खूब जानते हैं, किंतु उस 'तट' के बारे में नहीं जानते—जहां से ये सारी विकृतियां, ये सारे दोष आ रहे हैं।

संभवतः हमारे शिक्षाशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे कि हमारी शिक्षा अध्यात्म से जुड़े, ध्यान से जुड़े। वे अपनी सीमा तय करके बैठे हैं। वे यह मान बैठे हैं कि हमारा पूरा उपक्रम दृश्य-जगत के लिए ही है। अदृश्य-जगत हमारा विषय नहीं है, हमारी शिक्षा का क्षेत्र नहीं है, शिक्षा की सीमा में नहीं है। इसलिए सरकारी पाठ्यक्रम में यह कभी भी नहीं जुड़ सकता। अब तक बने शिक्षा-आयोगों के अनेक सदस्यों से इस विषय में बातचीत करने पर यही प्रतीत हुआ कि शिक्षा की जो एक सीमा बना दी गई है, उससे परे जाने के लिए वे तैयार नहीं हैं। और, यह उनके लिए अस्वाभाविक भी नहीं है।

अब क्या करें? कैसे इस बीमारी को मिटाएं? इस ज्वलंत समस्या का समाधान कैसे ढूंढें? क्या जीवन की यह विकृति पनपती ही रहे?

आज आदमी की ऐसी मनोवृत्ति हो गई है कि जीवन में विकार आते हैं, पर वह उन विकारों के प्रतिकार की बात नहीं सोचता और सुधार की बात करता चला जाता है। यह मनोवृत्ति जब तक चलेगी तब तक सुधार नहीं होगा, समस्या का समाधान नहीं होगा।

हमारे विद्यापीठ, शैक्षणिक संस्थान इस बात पर ध्यान दें या न दें, किंतु प्रत्येक विद्यार्थी की यह दृष्टि निर्मित होनी चाहिए और उसे ऐसा सोचना चाहिए कि विद्यापीठ में जो कुछ मैंने सीखा है—वह अधूरा है। जब तक मैं जीवन-विज्ञान की शिक्षा नहीं पा लूंगा, तब तक सुख-चैन से नहीं जी सकूंगा।

एक दिन मेरे पास कुछ स्त्रियां और कुछ पुरुष आए। वे सब संपन्न घरों से थे। उनके पास साधनों की कोई कमी नहीं थी। फिर भी वे सब परेशान और मानसिक उलझनों से पीड़ित थे। दिन-रात बेचैन रहते थे। नींद भी पूरी नहीं आती, सब परेशान। मैंने सोचा—क्या वही बात नहीं हो रही है कि जो 'मूल' है—वह तो लुप्त हो रहा है और साधनों का अंबार लगाया जा रहा है? जिनके लिए ये साधन हैं, वे स्वयं पीड़ित हैं, दुखी हैं—फिर ये साधन किसके काम आएंगे? थोड़ी मानसिक तुष्टि इनसे अवश्य मिलती होगी, पर वेदना इतनी प्रबल होती है कि वह मानसिक तुष्टि को लील जाती है। वह फीकी पड़ जाती है।

इन सारे संदर्भों का फलित यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन-विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। यदि सरकार जीवन-विज्ञान की शिक्षा न दे सके तो व्यक्ति स्वतंत्र है, उसमें निर्णय करने की क्षमता है और वह अपने हित-अहित को जानता-समझता है। वह यह भी जानता है कि मैं अपने भाग्य का निर्माता हूं। मैं अपने भाग्य की संरचना कर सकता हूं। मैं अपने भाग्य को बदल सकता हूं। मैं किसी के हाथ की कठपुतली नहीं हूं। मेरी स्वतंत्र सत्ता है। मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है। मेरा पुरुषार्थ और पराक्रम भाग्य की खींची हुई लकीरों को मिटा सकता है और नई लकीरें खींच सकता है।

जब हम में इतना सामर्थ्य है, तो हम उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? जीवन-विज्ञान से हमारे हाथ में जीवन का मूल-सूत्र आ सकता है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि विद्यापीठ में हम पचास प्रतिशत शिक्षा पाते हैं और पचास प्रतिशत शिक्षा हमें अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मानुशासन को प्राप्त करके पूरी करनी है। मैंने यह अनुपात जरूर बताया है, पर यथार्थ में निन्यानबे प्रतिशत शिक्षा आत्मानुशासन को विकसित करने की होनी चाहिए और एक प्रतिशत शिक्षा बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिए होनी चाहिए।

इस प्रसंग में मैं श्रीमज्जयाचार्य के शब्दों को उद्धृत करना चाहता हूं। वे एक महान योगी, अनुशास्ता, कवि, मनीषी और धर्मवेत्ता थे। उन्होंने लिखा है—'जिसका स्वभाव और प्रकृति अच्छी होती है, जो आत्मानुशासी होता है, जो अपने आवेगों, आवेशों, वासनाओं और कामनाओं पर नियंत्रण कर सकता है, जो अपनी आकांक्षाओं का प्रतिरोध कर सकता है, उन पर अनुशासन कर सकता है, पर पढ़ा-लिखा नहीं है—तो उस व्यक्ति की नौली में निन्यानबे रुपये हैं, एक रुपया मात्र खाली है।'

जिस व्यक्ति ने अपने आपको नहीं संवारा, नहीं सजाया—उसकी थैली खाली है, वह स्वयं रिक्त है। फिर चाहे वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता ही हो जाए, निष्णात हो जाए—ऐसा व्यक्ति परिवार, समाज और संसार के लिए कांटा ही बना रहेगा। इसीलिए दुनिया को नष्ट करने वाली सामग्री के अंबार लगे हुए हैं। आज जीवन-मृत्यु में कोई दूरी नहीं रह गई है। किस क्षण क्या हो जाए, कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। विनाश की सामग्री जुटाने वाले और जिसको लक्ष्य कर सामग्री जुटाई जा रही है—दोनों ही विनाश के कगार पर खड़े हैं। कोई सुरक्षित नहीं है। ऐसा पागलपन क्यों आता है? इसका एक मात्र उत्तर है कि यह पागलपन आता है—आत्मानुशासन के अभाव में।

अतः आत्मानुशासन का मूल्य सर्वोपरि है। ध्यान के अभ्यास के बिना आत्मानुशासन नहीं आता। ध्यान और साधना की सारी पद्धतियां तथा आध्यात्मिक विकास—ये सारे उपक्रम आत्मानुशासन के लिए हैं। आत्मानुशासन के आने पर अन्यान्य विद्याएं भी पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं। फिर उनमें कोई अपूर्णता नहीं रहती। धर्म को मानने वाला या धर्म को नहीं मानने वाला—प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि शांतिपूर्ण जीवन या सुखी जीवन की प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं होती, जब तक आत्मानुशासन का पाठ पूरा नहीं पढ़ लिया जाता। क्या यह संभव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने बाल-बच्चों को, मित्रों को और सगे-संबंधियों को यह बात बलपूर्वक समझाए कि जो विद्याएं हमने विद्यापीठों में पाई हैं, वे सारी वस्तु-जगत की विद्याएं हैं और वस्तु-जगत की शिक्षा सदा अधूरी होती है? उसमें पूर्णता तब आएगी, जब आदमी 'चेतन-जगत' की विद्या को सीखेगा। यदि यह बात पूर्णरूप से समझ में आ जाए तो विद्यालयों में अनावश्यक भीड़ नहीं होगी।

आज यह सामान्य रूप में कहा जाने लगा है कि आदमी के मन में धर्म के प्रति भावना नहीं रही। यह प्रश्नचिह्न नहीं, एक स्वाभाविक बात है और इसलिए है कि धर्म के संस्थानों को जो देना चाहिए—वह नहीं दिया जा रहा है। उन्हें प्रकाश देना चाहिए, पर वह नहीं मिल रहा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रकाश देने वाला ही अंधकार उगलने लग जाता है। आज धर्म-संस्थान अंधकार दे रहे हैं। जबकि वे अंधकार बिखेरने के लिए नहीं हैं, वे प्रकाश देने के लिए हैं। वे प्रकाश स्तंभ बनें और अध्यात्म का विकिरण करें। धर्म-संस्थान अध्यात्म और ध्यान का संस्थान बन जाएं तो वे हमारे आंतरिक हेतुओं, कारणों, रसायनों और भावों को—जो हमें प्रमत्त कर रहे हैं—बदलने वाले बन जाएंगे।

इस प्रकार शिक्षण-संस्थान शिक्षित करने का पचास प्रतिशत कार्य करें और शेष पचास प्रतिशत कार्य करें—धर्म-संस्थान। दोनों के मिले-जुले प्रयत्नों से एक अद्भुत व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है। परंतु, धर्म-संस्थान यह दायित्व उठा पाएंगे—यह बात भी कुछ दुरूह लगती है। अध्यात्म को जगाने के लिए जितनी गहरी निष्ठा, जितनी तीव्र साधना, त्याग और तपस्या चाहिए तथा जितने शक्तिशाली उपक्रम चाहिए—वे नहीं होंगे तो धर्म-संस्थान भी वैसा नहीं कर पाएंगे। आज धर्म के संस्थानों में सचमुच वैसा नहीं हो रहा है।

शिक्षा-क्षेत्र की अनेक समस्याएं हैं। उनके चिंतन और समाधान के रूप में यह एक तथ्य उभर कर आता है कि प्रत्येक शिक्षार्थी अपने विश्वविद्यालयी शिक्षा के पश्चात् एक वर्ष का पूरा समय अपने जीवन-विज्ञान को समझने-सुलझाने के लिए लगाए, अपने आत्मानुशासन के विकास के लिए लगाए। यदि प्रत्येक विद्यार्थी में यह भावना बलवती बन जाए और इसका पूरा चित्र समाज के सामने प्रस्तुत हो जाए तो यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि सरकार जिस शिक्षा की पहेली का समाधान नहीं कर सकती, अनुशासन की प्रतिष्ठापना नहीं कर सकती—उसको समाज अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से सुलझा देगा। यदि वह अनुशासन की प्रतिष्ठा कर देगा तो यह धार्मिक जगत का बहुत बड़ा अवदान होगा। ❖

समाप्त

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

जब तक भौतिकता और आध्यात्मिकता को एक में जोड़ने वाले शिक्षण और ज्ञान की व्यवस्था नहीं होती, तब तक जिन युवक और युवतियों ने अपनी चालू शिक्षा समाप्त की है और जीवनयात्रा की देहलीज पर खड़े हुए हैं, उनके सामने यह प्रश्न है कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में—अपने बाहरी कार्यकलापों का—अपने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों के साथ किस प्रकार सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे? आज प्रश्न है कि आप खंडित व्यक्तित्व वाले बनेंगे अथवा अखंडित व्यक्तित्व वाले? क्या, एक ओर आप अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचारी बनने का प्रयत्न करेंगे (सदाचार के संबंध में आपकी जो भी धारणा हो) और अपने सार्वजनिक जीवन में ऐसा व्यवहार करेंगे, मानो उसका नैतिक मान्यताओं के साथ कोई संबंध ही न हो? विज्ञान द्वारा स्वीकृत साधनों के अनुसार मैं इस बात को सिद्ध भले ही न कर सकूं, परंतु मेरा यह विश्वास है, कि यदि आप अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचार को जैसा ऊंचा स्थान दें, वैसा ही ऊंचा स्थान उसे आप अपने सार्वजनिक या सामाजिक जीवन में भी दें—तो आप कहीं अधिक उपयोगी अर्थशास्त्री, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, अध्यापक, राजनीतिज्ञ अथवा कुछ भी बन सकते हैं।

जयप्रकाश जयंती
(11 अक्टूबर)
विशेष

शिक्षण : जरूरत आध्यात्मिकता व भौतिकता को जोड़ने की

❑ जयप्रकाश नारायण

उत्तम शिक्षण की जो कसौटियां हैं, उनमें से एक यह भी है कि वह युवकों में अपना भावी जीवन विवेकपूर्वक चुनने की क्षमता उत्पन्न करे। हमारे देश में, जहां कि चारों ओर अभाव-ही-अभाव है, अपने मनोनुकूल मार्ग चुनने की अधिक स्वतंत्रता नहीं है। इसके साथ ही ऐसे चुनाव में तीव्र प्रतिद्वंद्विता का भी सामना करना पड़ता है। फलतः बहुतों को अपेक्षाकृत कम रुचिकर व्यवसाय चुनने को मजबूर होना पड़ता है। किंतु इसमें निराशा की कोई बात नहीं है। सारे संसार में अधिकांश स्त्री-पुरुषों को कम रुचिकर व्यवसाय चुनने पड़ते हैं, फिर भी ऐसा नहीं लगता कि उनका चुनाव अच्छा नहीं हुआ है।

शिक्षा के आदर्श

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानदान और प्रशिक्षण देना तो है ही, साथ ही शिक्षा का एक सर्वमान्य उद्देश्य है—मानव को मानव बनाना, उत्तम मानव बनाना। यह अत्यंत ही कठिन कार्य है और इसकी पूर्ति के लिए अभी तक कोई अचूक शिक्षा-पद्धति उद्भूत नहीं हो सकी है। मनुष्य का पर्यावरण समझने और बदलने के लिए बहुत-कुछ किया गया है, परंतु मनुष्य को समझने और बदलने के लिए बहुत ही कम काम किया गया है। प्राचीन काल में हमारे यहां बिल्कुल ही दूसरी बात थी। पर्यावरण को नश्वर अथवा असत् माना जाता था। उसे समझना और उसमें परिवर्तन करना आवश्यक था

और वह भी केवल उतना कि जितना मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक था। सत् था, स्वयं मनुष्य। इस बात पर पूरा जोर दिया जाता था कि मनुष्य इस बात को समझ सके कि वह क्या है और कौन है? यह ज्ञान-प्राप्ति का भी उद्देश्य माना जाता था और आनंद-प्राप्ति का भी। दुर्भाग्य की बात है कि मानवीय संस्कृति अथवा आत्मोन्नति आज अनुत्पादक शाब्दिक परिपाटी के रूप में रह गई है। उसके साथ कुछ बाह्य शारीरिक क्रियाएं भी जुड़ गई हैं। उनके द्वारा न तो मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, न सत्य का दर्शन हो सकता है। मानव का सच्ची मानवता की ओर बढ़ने का जो लक्ष्य है, वह उससे पूरा नहीं होने वाला।

कई वर्षों से पूर्व और पश्चिम में भीतरी और बाहरी, भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान को जोड़ने का, दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उसका उद्देश्य यह है कि मानव की बाह्य और आंतरिक प्रवृत्तियों का सामंजस्य स्थापित हो जाए। सभी अद्वैत दर्शनों के मूल में (जो प्रवृत्ति अथवा आत्मा की यथार्थता स्थापित करके अपने निष्कर्षों पर पहुंचते हैं) यही बात है। उसके द्वारा ऐसे ज्ञान का विकास होगा, जिसमें न तो भौतिकवाद की उपेक्षा होगी और न अध्यात्मवाद की। वह दोनों का सच्चा समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करेगा।

मित्रो! शिक्षण कहीं से शुरू होकर कहीं समाप्त हो जाने की या विद्यालय की चहारदीवारी के अंदर बंद रहने की प्रक्रिया नहीं है। उसकी अवधि गर्भ से मृत्यु तक है। उसका क्षेत्र संपूर्ण जीवन, समाज और प्रकृति है। जीवन की कोई प्रक्रिया, साधन या संबंध शिक्षण के बाहर नहीं है, बल्कि वे ही शिक्षण के मुख्य माध्यम हैं।

शिक्षण और पुस्तक तो पूरक हैं। उत्पादन आधारित शिक्षण का लक्ष्य मात्र उत्पादन नहीं है। उत्पादन प्रेरणा नहीं, परिणाम है। स्वावलंबन शिक्षण की कसौटी होगा। खेत, खलिहान आदि 'क्लासरूम' होंगे और घर के चूल्हे-चक्की से लेकर जन्म-विवाह, खेती और उद्योग, सामाजिक संबंध और समस्याएं आदि सब शिक्षण के विषय बनेंगे। —जे.पी.

शिक्षा का स्वरूप

ऐसा होने पर शिक्षा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकेगी और मनुष्य तथा उसके पर्यावरण, दोनों के निर्माण का अपना कर्तव्य पूरा कर सकेगी, जिसके कारण मानव की आंतरिक और बाह्य क्रियाएं परस्पर संबद्ध रह सकेंगी और दोनों एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ सकेंगी। आज तो दोनों के बीच कोई तर्कसंगत संबंध ही नहीं है। धर्म मनुष्य से कहता है कि वह केवल विश्वास के आधार पर कार्य करे। उदाहरण के लिए यंत्र-कला अथवा व्यापार अथवा राजनीति जैसे विज्ञानों का अन्य विज्ञान—'आत्मा' के विज्ञान—से कोई आंतरिक संबंध नहीं है। केवल धर्म अपने अधिकार के कारण, न कि विवेक के कारण, जो संबंध स्थापित कर सका है, उतना ही है। कहीं-कहीं विरल मामलों में किसी भी व्यवसाय में लगा हुआ आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विकसित व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभवों में भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकता है, किंतु आज के जमाने में इस तरह के व्यक्ति को झक्की माना जाएगा।

गांधी ने राजनीति को आध्यात्मिकता की दिशा में ले जाने की आवश्यकता पर जोर दिया था, परंतु व्यावहारिक रूप में वे राजनीति और अध्यात्म के बीच कोई तर्कसंगत संबंध स्थापित करने में सफल न हो सके। गांधी के भारत में भी राजनीति का शिक्षण आध्यात्मिक शिक्षण से भिन्न माना जाता है। दोनों के बीच कोई तर्कसंगत पारस्परिक संबंध नहीं माना जाता है। आज कोई नहीं जानता कि 'अध्यात्मीकृत' राजनीति का स्वरूप कैसा होगा और आज के युग में उसको व्यवहार में कैसे लाया जा सकेगा? आज के युग में सबसे प्रमुख और विशिष्ट वस्तु है—'राष्ट्रसत्ता', जो कि मेरी दृष्टि से मानवता के लंबे इतिहास में बनी सबसे भयंकर संस्था है।

इस देश में शिक्षित जनमत का यही हाल है। मैं मानता हूं कि यही स्थिति अन्यत्र भी है। इसके चलते राजनीति का कोई अभ्यासी यदि अपने आध्यात्मिक ज्ञान के अनुकूल चलने का प्रयत्न करता है, तो वह अपने कार्य के लिए अयोग्य और अव्यावहारिक माना जाएगा। इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी चतुर राजनीतिज्ञ नैतिकता या आध्यात्मिकता की बात नहीं करता, परंतु हर राजनीतिज्ञ की—हर राष्ट्र की भी—नैतिकता या आध्यात्मिकता भिन्न-भिन्न होती है। आध्यात्मिकता से राजनीति का संबंध-

विच्छेद आश्चर्यजनक है। कारण, जैसा कि रिचर्ड क्रॉसमन ने कहा है—'यदि हम गहराई से विश्लेषण करें तो सभी राजनीतिक निर्णयों के मूल में नैतिक धरातल रहता है।'—मानव-व्यक्तित्व का यह विभाजन उस समय तक जारी रहेगा, जब तक 'नैतिक मनुष्य' और 'अनैतिक समाज' के बीच का पारस्परिक विरोध सामंजस्यपूर्ण ज्ञान के द्वारा दूर नहीं कर दिया जाएगा और उसी ज्ञान के आधार पर शिक्षण नहीं दिया जाएगा। जब तक नैतिकता और आध्यात्मिकता की परलोकवादिता बनी रहेगी, तब तक समाज के व्यावहारिक जीवन से उनका संबंध-विच्छेद रहेगा, जिससे मानवीय हितों में और मानव के विकास में भारी बाधा पहुंचती रहेगी।

विज्ञान सहयोगी

कोई भी विज्ञान—फिर वह भौतिक हो या सामाजिक—यदि शुद्ध सत्य पर अथवा सत्य के परीक्षण के परिष्कृत साधनों पर दृढ़ नहीं रहता तो उसका विकास नहीं हो सकता, परंतु जब उसको समाज पर लागू किया जाता है तो आंतरिक नैतिकता टूट जाती है। ऐसी स्थिति में विज्ञान आचार की नीति के परे हो जाता है और केवल नैतिक ही नहीं, अनैतिक कामों के लिए भी उसका उपयोग होने लगता है। यही है वह स्थान, जो विज्ञान की समस्या और समाज की समस्या का केंद्र है। आज यह प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है कि विज्ञान का अनैतिक उपयोग केवल नैतिक दृष्टि से नहीं, अपितु भौतिक दृष्टि से भी समाज को अथवा उसका उपयोग करने वाले समूह को हानि पहुंचाएगा। जब तक वैज्ञानिक रीति से भविष्य के बारे में निश्चित रूप से पूर्व सूचना देना संभव नहीं होता, तब तक इस बारे में कुछ घोषणा नहीं की जा सकती। यदि पर्याप्त दीर्घ काल तक नैतिकता और सामाजिक कर्म के बीच कोई पारस्परिक संबंध स्थापित किया जा सके और उससे संबद्ध समूह या समाज पर उसके भौतिक परिणाम देखे जा सकें तो आज के अनैतिक समाज के लिए नैतिकता की चिंता करना अनिवार्य हो जाएगा। लोगों को ऐसा लग सकता है कि उसका अर्थ—'भौतिकतावाद'— के आगे घुटने टेक देना होगा। परंतु, वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। नैतिकता और भौतिकवाद के बीच समन्वय स्थापित करने का और दोनों के बीच जो स्पष्ट भेद है, उसे दूर करने का युक्तिसंगत उपाय यही है। आज नैतिकता की कसौटी नैतिकता के प्रमाण से ही होती है। भौतिकता से उसका संबंध नहीं रहता। मैं जिस मार्ग से ज्ञान के विकास की कल्पना करता हूं, उसमें नैतिकता और भौतिकता के बीच युक्तिपूर्ण सामंजस्य स्थापित किया जाएगा और आज नैतिक पुरुष की दृष्टि में भौतिक पदार्थों के लिए जो अवहेलना है, वह दूर हो जाएगी और 'भौतिकतावादी' पुरुष की दृष्टि में नैतिकता के संबंध में जो अनादर या उपेक्षा है, वह भी दूर हो जाएगी।

आंतरिक और बाह्य जीवन में सामंजस्य

जब तक भौतिकता और आध्यात्मिकता को एक में जोड़ने वाले शिक्षण और ज्ञान की व्यवस्था नहीं होती, तब तक जिन युवक और युवतियों ने अपनी चालू शिक्षा समाप्त की है और जीवनयात्रा की देहलीज पर खड़े हुए हैं, उनके सामने यह प्रश्न है कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में—अपने बाहरी कार्यकलापों का—अपने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों के साथ किस प्रकार सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे? आज प्रश्न है कि आप खंडित व्यक्तित्व वाले बनेंगे अथवा अखंडित व्यक्तित्व वाले? क्या, एक ओर आप अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचारी बनने का प्रयत्न करेंगे (सदाचार के संबंध में आपकी जो भी धारणा हो) और अपने सार्वजनिक जीवन में ऐसा व्यवहार करेंगे, मानो उसका नैतिक मान्यताओं के साथ कोई संबंध ही न हो? विज्ञान द्वारा स्वीकृत साधनों के अनुसार मैं इस बात को सिद्ध भले ही न कर सकूं, परंतु मेरा यह विश्वास है, कि यदि आप अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचार को जैसा ऊंचा स्थान दें, वैसा ही ऊंचा स्थान उसे आप अपने सार्वजनिक या सामाजिक जीवन में भी दें—तो आप कहीं अधिक उपयोगी अर्थशास्त्री, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, अध्यापक, राजनीतिज्ञ अथवा कुछ भी बन सकते हैं। इससे न केवल आप सामाजिक हित में अधिक योगदान करेंगे, बल्कि सारे संसार की दृष्टि में देश का सिर ऊंचा उठायेंगे। इसी में आपका व्यक्तिगत लाभ है। मनुष्य केवल भोजन करने के लिए जीवित नहीं रहता, उसके भीतर अधिक सूक्ष्म और अधिक गहरी आकांक्षाएं भी होती हैं, जिनकी तृप्ति वह चाहता है। अतः आपको चाहिए कि आप अपने आंतरिक और बाह्य जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करें।

शांति की समस्या

एक दूसरा प्रश्न भी है, जो मुझे बहुत महत्त्व का

लगता है। आप जानते हैं कि आज के वैद्युतिक-पारमाणविक युग में सबसे महत्त्व की समस्या शांति की समस्या मानी जाती है। मैं आशा करता हूं कि इस प्रश्न पर विचार करना असामयिक नहीं माना जाएगा। वस्तुतः मेरी दृष्टि में विश्वविद्यालय ही सबसे उपयुक्त स्थान है, जहां कि शांति के प्रश्न पर अत्यंत गंभीरता से अध्ययन, चिंतन तथा मनन होना चाहिए। यूरोप और अमेरिका में ऐसे कितने ही विश्वविद्यालय हैं, जहां पृथक रूप से 'शांति-शोध-संस्थान' स्थापित हैं। अमेरिका में कितने ही छात्र और अध्यापक शांति-यात्राओं और शांति-प्रदर्शनों आदि में भाग लेते हैं।

शांति में मैं दिलचस्पी रखता हूं, वह इसलिए नहीं कि मैं 'गांधीवादी' हूं। गांधीजी स्वयं कहते थे कि गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है। न तो उन्होंने कोई वाद चलाया, न कोई संप्रदाय खड़ा किया और न कोई विचारधारा ही स्थापित की। गांधीजी सत्य के शोधक थे। वे सतत सत्य के प्रयोग करते रहे। 'गांधीवाद' के बजाय 'गांधी विचार' अथवा 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सर्वोदय किसी व्यक्ति-विशेष से बंधा हुआ नहीं है। सर्वोदय एक सतत विकसनशील विचारधारा है। मानव और समाज के विषय में सत्यशोधन से ही मतलब है, किसी सिद्धांतवाद से नहीं।

मानव-सभ्यता की दिशा

शांति में दिलचस्पी मुझे इसलिए नहीं है कि मैं किसी संप्रदाय-विशेष का सदस्य हूं, या मेरे दिमाग पर कोई खब्त सवार है, बल्कि इसलिए कि मैं मानव हूं। हम लोग मानव के सिवा और सबकुछ है—भारतीय हैं, हिंदू हैं, मुस्लिम हैं, ब्राह्मण हैं, लिंगायत हैं, कलाकार हैं, विद्वान हैं, वैज्ञानिक हैं, समाजवादी हैं, साम्यवादी हैं, लेकिन मानव नहीं हैं। मानव बनने के मानी यह नहीं कि धर्म, विज्ञान, राष्ट्रीयता या विचारधारा से इंकार करना, वरन उसके मानी हैं—इनके परे जाना और इन बाह्य आवरणों को हटा कर असली मानव को पहचानना। मानव बनने का मतलब है—मानव-मात्र को भाई मानना, विश्व-नागरिक बनना, हर मानव के जीवन, सुख और स्वातंत्र्य की कामना करना। मानव का अर्थ है—अन्याय और अत्याचार का मुकाबला करना, युद्ध का निषेध करना तथा नैतिक विकल्प ढूंढ़ना। मानव चाहे जिस धर्म और विचारधारा का मानने वाला क्यों न हो, विज्ञान और तकनीक में समृद्धि एवं तथाकथित संस्कृति और सभ्यता में आगे बढ़ा हुआ क्यों न हो—वह उसी हद तक सभ्य माना जाएगा, जिस हद तक वह युद्ध से शांति की ओर अग्रसर होगा, उससे अधिक नहीं।

शांति में मुझे इसलिए दिलचस्पी है कि मुझे विश्वास है कि युद्ध से कोई समस्या हल नहीं होती। हम सबको मालूम है कि अत्यंत विनाशकारी युद्ध के बाद भी शांति करनी होती है। महाभारत का अंत उज्ज्वल शांति पर्व से होता है। मेरे प्रिय मित्रो! युद्ध मनुष्य की स्थाई अवस्था नहीं है। वह तो शांति ही है। शांति की हम सबको नितांत आवश्यकता है।

दो मार्ग

शांति के लिए काम करना कायरता नहीं है। इसके ठीक विपरीत, उसके लिए तो सर्वोच्च प्रकार की नैतिक तथा शारीरिक वीरता की जरूरत होती है। शांति का प्रश्न आज दो स्तरों से सुलझाने का प्रयास किया जा रहा है—राजनीतिक तथा मानवीय। ये दो स्तर एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इन दोनों के बीच एक स्पष्ट भेद यह है कि राजनीतिक स्तर पर काम करने वाले सभी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनिवार्यतः अहिंसानिष्ठ नहीं हैं; जबकि मानवीय स्तर पर काम करने वाले सभी अहिंसानिष्ठ हैं। महात्मा गांधीजी राजनीतिक और मानवीय, दोनों स्तरों से काम करने वाले शांतिवादी कार्यकर्ता के एक उत्तम उदाहरण थे। स्वातंत्र्य के लिए भारत के अहिंसक आंदोलन के कारण तथा महात्मा गांधी के अद्वितीय नेतृत्व और व्यक्तित्व के कारण, भारत एक असाधारण राष्ट्र के रूप में देखा जाने लगा था और उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह युद्धरहित जगत का निर्माण करने में विश्व का नेतृत्व करेगा। भारत के नैतिक अधिकार के संबंध में संयुक्त राष्ट्र तथा दुनिया की सरकारों के मन में बहुत ऊंचा स्थान था। यह एक ऐसी संपत्ति थी, जो सेना के कई 'डिविजन' और बाहरी सहायता के करोड़ों 'डालर' से कहीं अधिक मूल्यवान थी। आज के जगत की नई परिस्थिति के कारण पहले से भी अधिक परिष्कृत नीति अख्तियार करनी होगी, लेकिन शांति और न्याय को यदि मद्देनजर रखा जाए तो विश्व-शांति का ताना-बाना बुनने में भी इससे सहायता होगी।

युद्ध की सफलताओं के कारण आम जनता की तरह गांधी वालों ने कोई आनंद नहीं मनाया। उनको तो नर-संहार

तथा विद्वेष और वैर-भाव के बढ़ने से दुःख ही हुआ और इसका अफसोस भी कि वे युद्ध को न तो टाल ही सके, न रोक ही सके। जब युद्ध छिड़ा, तब हममें से कुछ लोगों ने इस संघर्ष में अहिंसात्मक हस्तक्षेप करने की विविध संभावनाओं पर विचार किया था। आंतरिक हिंसा के विस्फोट के मामलों में गांधी वालों ने अपने-आप को कभी लाचार नहीं पाया। कुछ घटनाओं में उनके बीच-बचाव के कारण आने वाला संकट टल गया, कुछ में संकट लंबा नहीं चल पाया अथवा परिणाम अधिक बुरे नहीं हो पाए। लेकिन अंतरराष्ट्रीय हिंसा में—जहां भारत का सीधा संबंध रहा—हम लोग लाचार दर्शन के अतिरिक्त कुछ कर नहीं पाए। निःसंदेह हमने युद्ध-ज्वर को कम करने का प्रयत्न किया है और समझौते के दरवाजे बंद न करने की सलाह दी है।

यह सारा विषय सारे देशवासियों के लिए चिंता का विषय बनना चाहिए, जो महात्मा गांधी को 'राष्ट्रपिता' कह कर सम्मानित करते हैं और जिन्होंने उनके नेतृत्व में अहिंसा के द्वारा आजादी हासिल की है। हमें यह सोचना चाहिए कि क्या यह संभव नहीं है कि हम अपनी आजादी और इज्जत तथा अपनी क्षेत्रीय अखंडता को अहिंसा के द्वारा टिका सकें?

शांतिवादियों की भूमिका

इस संबंध में मेरे मन में कुछ विचार हैं। दुनिया भर के शांतिवादी (जिनमें गांधीवादियों का भी समावेश मैं कर लेता हूं, हालांकि मुझे इन दोनों के बीच के भेद का पता है) अपने-आप को दूसरों के पापों का प्रायश्चित्त करने वालों की असहाय और उपहासास्पद परिस्थिति में रख देते हैं। दूसरे लोग युद्ध पैदा करते हैं और शांतिवादी यह महसूस करते हैं कि उनका प्रतिकार किया जाए, या उनको खतम किया जाए। मुझे लगता है कि यह एक बिल्कुल अतार्किक परिस्थिति है और जब तक शांतिवादी अपने-आप को ऐसी बेतुकी परिस्थिति में रखेंगे, तब तक उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। महात्मा गांधी ने यह अवश्य कहा था कि यदि एक भी सच्चा सत्याग्रही हो तो वह सारे साम्राज्य के खिलाफ खड़ा हो सकता है। संभव है। लेकिन, ऐसा सत्याग्रही अभी तक पैदा नहीं हुआ। यहां मैं सामान्य मानवों की बात कर रहा हूं, जो कम-से-कम इतने मानवीय हैं कि भाई को मारने वाले भाई के बीच रेखा खींच सकते हैं। इस तरह के मानव युद्ध-रहित संसार का निर्माण करने में सफल नहीं हो सकते, यदि वे जन-जीवन के संचालन का भार दूसरों के हाथ में छोड़ दें।

शांति के प्रयासों में बुद्धिजीवियों का सहयोग

युद्ध की जड़ें मनुष्यों के मनों में है, उनकी शिक्षा-पद्धति में है, उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा पद्धतियों में है। महात्मा गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम, शिक्षण-पद्धति में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का उनका आग्रह, आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण और जड़मूल में जाने वाला लोकतंत्र (जिसकी कल्पना उन्होंने ग्राम-राज्य के रूप में की) और स्वावलंबन तथा आत्मनिर्भरता पर उनका जोर, सादे जीवन के विषय में उनके नैतिक उपदेश, सर्व-धर्म-समभाव पर उनका आग्रह, अंतरराष्ट्रीयता के परिपूरक के रूप में इन सबका उद्देश्य यही था कि हम ऐसे विश्व का निर्माण करें जिसमें हिंसा न रहे।

यह तो स्पष्ट ही होना चाहिए कि जब तक अहिंसा के लिए एक ऐसा सामूहिक आंदोलन नहीं किया जाएगा, जिसमें सामाजिक कार्यक्रम, परिवर्तन और निर्माण भी शामिल रहें, तब तक ऐसी आवश्यक लोकशक्ति जाग्रत नहीं हो सकेगी, जो सार्वजनिक नीति और सार्वजनिक कार्यों को भलीभांति प्रभावित कर सके। यह आवश्यकता विनोबाजी के ग्रामदान-आंदोलन से पूरी हो सकती है। गांधीवादी लोग राजनीति में अधिक दिलचस्पी लें, जिससे कि वे सार्वजनिक नीति को प्रभावित कर सकें—ऐसा प्रश्न कई बार उठाया गया है। गांधीजी फल के बजाय कार्य के मूल की ओर विशेष ध्यान देते थे। लोकसभा में जाने के बजाय वे जनता के पास जाने की बात सोचते थे। आचार्य विनोबा भी उन्हीं के पथ पर चले। गांधीजी होते तो निश्चत ही ग्राम-राज के आधार पर जन-आंदोलन खड़ा करते। दुर्भाग्य की बात है कि गांधीजी के बाद गांधीवादियों ने इस कार्यक्रम की उपेक्षा कर दी और उसे सरकार पर छोड़ दिया और उसने पंचायती राज्य के भद्दे रूप को अमल में लाना शुरू किया। आज इस आंदोलन की कमजोर कड़ी यह है कि उसे बुद्धिजीवी वर्ग का पर्याप्त समर्थन नहीं मिल सका है। बुद्धिजीवी लोग इस चुनौती को स्वीकार करते हैं, तो कोई संदेह नहीं है कि अहिंसा को एक व्यर्थ की बात नहीं माना जाएगा। तब अहिंसा एक महान शक्तिशाली और क्रांतिकारी विचारधारा का स्वरूप ग्रहण करेगी और राजनीति तथा संसद पर अपना प्रभाव डालेगी, जन-आंदोलन के लिए जिस प्रेरणा की अत्यंत आवश्यकता है, वह भी प्रदान करेगा। ❖

भारत में अहिंसा की स्पष्ट व पूर्ण संधारणा केवल जैन धर्म में सुलभ है। पर, अहिंसा के इस जैन दर्शन की स्थिति एक पूर्ण आदर्श या 'यूटोपिया' जैसी है, कि इसका पालन ही कठिन हो जाए। शस्त्र विसर्जन व युद्ध वर्जन, मांसाहार निषेध, प्रकृति के उपयोग-उपभोग पर अहिंसक व अपरिग्रही प्रतिबंध आदि का सभी से निर्वाहन कैसे कराया जाए? गांधी स्वयं इससे अवगत थे, इसीलिए वे कहते भी थे कि उनकी 'अहिंसा' को सभी नहीं मानेंगे, पर 'सत्य' का समर्थन तो वे—'सत्य ही ईश्वर है'—कह कर वैज्ञानिकों व नास्तिकों से भी प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि 'सत्य' तो इनका भी लक्ष्य होता है। ऐसी स्थिति में क्या अहिंसा का एक 'व्यावहारिक लचीलापन' या 'प्राथमिकता क्रम' निर्धारित किया जा सकता है?

महावीर परिनिर्वाण
महात्मा गांधी जयंती
और
अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस
विशेष

अहिंसा : जरूरत सामाजिक सक्रियता की

❑ प्रो. गोपाल भारद्वाज

सत्य, अहिंसा, शांति, प्रेम—ये ऐसे शब्द हैं जो काल व स्थान के विस्तार में विश्वव्यापी रहे हैं। ये जितने शास्त्रीय हैं, उतने ही लोकप्रचलित भी हैं। इनकी परस्पर संगति भी है। इन्हें हमारे समूचे अस्तित्व से—आधारभूत रूप से—जोड़ा भी गया है कि कैसे हमारे विचारों व व्यवहारों में इनका निर्वाह हो कि हमारा जीवनयापन सहज व सुरक्षित बना रह सके। पर, विडंबना है कि ये शब्द हमारे आदर्श अधिक और यथार्थ कम सिद्ध हुए हैं। ये शब्द हमारी सद्इच्छाएं अधिक और वास्तविकताएं कम रहे हैं। हिंसा, अशांति, असत्य, शत्रुता आदि से मानवता सर्वत्र अभिशप्त रही है। मनुष्य के आसुरी व तामसीपन का अनुपात समयक्रम में इतना बढ़ गया है कि तथाकथित विकास के इर्दगिर्द विनाश का घेरा और कद की तुलना में छाया का आकार अधिक बड़ा व भयावह हो गया है।

सत्य, अहिंसा, शांति और प्रेम आदि भारतीय संदर्भ में विशेष भी रहे हैं। इनका तुलनात्मक व विशेष विकास विश्व की किसी अन्य ऐतिहासिक सभ्यता व संस्कृति में; किसी अन्य धर्म, दर्शन, विचारधारा में; किन्हीं अन्य साहित्यिक कृतियों, संतों व जननायकों के आग्रहों व प्रयोगों आदि में शायद ही हो पाया हो। इनकी कसौटी पर खरे उतरने या इनके अनुकूल मानस परिवर्तन के भी अनेक पौराणिक व ऐतिहासिक उदाहरण यहां हैं। लोकजीवन की विविधताओं व विषमताओं के होते हुए भी समूचे भारतीय लोकमानस में ये रचे-बसे रहे हैं। कितने ही पुण्यकर्म, पर्व, व्रत, व्यवहार आदि द्वारा भी ये अनुधारित व अनुवर्तित रहे हैं। पर, भारत में इन सभी के विलोमों की अपनी व्यवहारगत वास्तविकता भी रही है। कितनी हिंसा, कितनी अशांति, कितनी घृणा व शत्रुता, कितना झूठ-पाखंड? तब भी, भारत की सनातनता की क्या खूब पहचान रवींद्रनाथ टैगोर, इकबाल, दिनकर आदि करते ही रहे हैं!

प्रश्न है कि आज के विश्व में अहिंसा की महत्ती आवश्यकता की वैचारिक व व्यावहारिक पूर्ति कैसे हो? क्यों और कैसे भारत में इसका सशक्त व सर्वसंभव स्रोत सुलभ है? अलबत्ता हिंसा, युद्धों आदि से भारत भी कहां बचा रहा, पर अहिंसा के लिए भी जितने प्रयत्न यहां हुए—वैसे अन्यत्र कहां हुए? आर्ययुगीन हिंसा, शास्त्रों में युद्धों के आख्यान और राम व कृष्ण का संबंध जिन युद्धों से

था, उनके भी क्या और कैसे रूप व परिणाम थे? संभवतः तभी अहिंसा के परम प्रस्तोता के रूप में भगवान महावीर का अभ्युदय हुआ और जैन धर्म में अहिंसा को सर्वाधिक प्रचलन व प्रतिष्ठा मिली। यहां पर—'अहिंसा परमो धर्मः'—एक शस्त्र से दूसरा बड़ा शस्त्र बना लेने का इतिहास है, पर कौन नहीं जानता कि 'अशस्त्र' की स्थिति जब बनेगी तभी मनुष्य सर्वाधिक सुरक्षित बन सकेगा। **शस्त्रेण परम शस्त्र अस्ति, अशस्त्रेण परम नास्ति**—यह कितना क्रांतिकारी सूत्र है। इसी क्रम में महात्मा गांधी का आगमन हुआ। वे सत्य के प्रयोगकर्ता के साथ, अहिंसा के प्रबल प्रस्तोता व पक्षधर के रूप में प्रतिष्ठित हुए। गांधी ने अहिंसा को जो अर्थ दिया, इसके जितने आयामों को उद्‌घाटित किया, इसकी जितनी तथ्यात्मक व तार्किक व्याख्याएं की—उससे एक पूरा अहिंसा-शास्त्र ही बन गया। गांधी के अहिंसा-शास्त्र में वैदिक—वेदांत और जैन—अनेकांत का समन्वय झलकता है।

पर, यह कहीं एक कोरा आदर्श या मात्र भ्रम ही तो नहीं है, कि अहिंसा संभव है? मनुष्य भी कहीं हिंसाजीवी ही तो नहीं है? आदिम मनुष्य कितना हिंसाजीवी था? कबिलाई हिंसा का दौर तो पूरे इतिहास के दौरान था ही, पर क्या आज भी पुनः आता हुआ दिख रहा है? राज्य-सत्ताएं भी कितनी हिंसा के सहारे बनती, चलती व मिटती रही हैं? आम आदमी के स्तर पर भी क्या उग्रता, आवेग, आक्रामकता, हिंसा आदि की वृद्धि होती जा रही है? जीवभक्षी पशुओं द्वारा अपनी आहारपूर्ति तक पशुजगत का हिंसालु—**जीव जीवेसु भक्षणं**—होना तो जीवन निर्वाह या प्रकृति संतुलन माना जा सकता है, पर मनुष्य के लिए ऐसा करना कतई आवश्यक नहीं है। फिर भी मनुष्य ने हिंसा के लिए शस्त्रों का न केवल विकास कर लिया, अपितु आज तक आते-आते उसने कितने ही तरह के हिंसा-प्रकारों को जन्म दे दिया, जो गंभीर विनाशकता व अकल्पनीय भयावहता का रूप ले चुके हैं। इसीलिए 'अहिंसा', 'सत्य' और 'शांति' आज सर्वाधिक विचारणीय हैं।

इनमें मौलिक अंतर क्या है? 'हिंसा' के साथ तो 'अ' जोड़ कर इसे सकारात्मक 'अहिंसा' बनाया गया है, पर 'सत्य' व 'शांति' के साथ 'अ' जोड़ने से बनने वाले शब्द 'असत्य' व 'अशांति' नकारात्मक क्यों हैं? क्या 'हिंसा' की तरह 'सत्य' (सत्) व 'शांति' भी प्रकृति में आधारभूत गुण-लक्षण की तरह निहित हैं? इसीलिए भारतीय प्राचीन शास्त्रों में 'सत्य' (सत्) की इतनी महिमा प्रतिपादित है और इतने 'शांतिपाठ' हैं। दूसरी ओर शस्त्र की साधना का भी इतना उल्लेख है और हिंसा का निषेध भी नहीं है। जब महावीर व गांधी की अहिंसा-जीविता के साथ जुड़ना चाहते हैं तो भारतीय शास्त्रीय सूत्र—**शस्त्रं शास्त्रे च कौशलं**—और बंगला कवि नजरूल इस्लाम की शस्त्रधारिणी मां काली की प्रार्थना—**मां तोमार हाथे शस्त्रो घोर शांति कोथाय**— विचलित करते हैं। क्या यहां शस्त्र सुरक्षा के लिए हैं, शांति व व्यवस्था के लिए हैं? इस अभिप्राय से बल प्रयोग व हिंसा क्या गांधी को भी मान्य रहे हैं? एक अंतिम विकल्प के रूप में, कि जिसका कभी उपयोग न करना पड़े? फिर भी यही माना जाएगा कि अहिंसा 'संस्कृति' है, जबकि हिंसा पशुजगत में 'प्रकृति' व मनुष्य के लिए 'विकृति' है।

महावीर और जैन दर्शन में अहिंसा की विपुल व विविध रूपेण प्रस्तुति हुई है। जैन आचार्यों व संतों ने इसकी सतत साधना व प्रवचन किए हैं। अहिंसा का निर्वाह 'जीव' के साथ 'जड़' मात्र के प्रति भी 'मनसा-वाचा-कर्मणा' हो। पानी की एक बूंद और हरी घास की एक पत्ती के साथ भी अहिंसा का पालना करना, अहिंसा का कितना उदात्त व प्रतीकात्मक अर्थ दिया गया है। महात्मा गांधी भी इसी अहिंसा-परंपरा में हैं। अहिंसा व सत्य पर केंद्रित गांधी ने कितने ही अभिनव प्रयोग किए, अभियान चलाए। जिन महान लक्ष्यों को लेकर वे चले और मानवीय कर्मशीलता को इनके प्रति सक्रिय किया। तभी भारत स्वतंत्र हो सका। तभी विश्व को एक विरले व्यक्तित्व, एक महामानव की प्राप्ति हुई।

दरअसल विश्व इतिहास शस्त्रों के विकास व युद्धों का इतिहास है। प्राचीन मिश्र के फिराउन शासकों ने कितने युद्ध लड़े? यहां वाल्मीकि व वेदव्यास और उधर होमर के महाकाव्य किन युद्धों के आख्यान हैं? भारत के पौराणिक 'दैवासुर संग्राम' की कितनी करिश्माई कथाएं हैं? हमारे प्राचीन ज्ञानी-विज्ञानी मनीषियों ने कितने देवी-देवताओं का आविष्कार किया और किन-किन चमत्कारी शस्त्रों को इनके साथ जोड़ा? कैसा अद्‌भुत कल्पनालोक है यह और इनका आकर्षक चित्रांकन भी? वज्र, चक्र, धनुष-बाण,

शेष पृष्ठ 49 पर

राजनीति और जीवन के क्षेत्र में करुणा का ही वास्तविक विस्तार और ठोस रूप अहिंसा है। डाक्टर लोहिया पूर्ण अहिंसा में विश्वास करते थे। किसी की जान लेना उनकी नजर में सबसे बड़ा गुनाह था और इस बात को व्यावहारिक राजनीति, राजनीतिक संघर्षों से लेकर फौज तक पर उतारते हुए सारे संहारक अस्त्रों और फौज की समाप्ति की वे वकालत भी करते थे। असल में वे हिंसा को कमजोरों का हथियार मानते ही नहीं थे। उन्हें लगता था कि किसी भी स्थिति में कमजोरों की हिंसा अंततः उनका ज्यादा नुकसान ही करेगी, क्योंकि ताकतवर वर्ग या संगठित शक्ति वाले शासन को इससे ज्यादा हिंसा करने का बहाना मिल जाता है। व्यावहारिक राजनीति के चलते उन्हें खुद कई बार ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा, जिसमें उनकी जान जा सकती थी। इसीलिए उन्होंने अहिंसा की अपनी मान्यता पर कभी भी शक नहीं किया।

लोहिया पुण्यतिथि
(12 अक्टूबर)
विशेष

धर्म : दीर्घकालिक राजनीति है

❑ *अरविन्द मोहन*

समता, अहिंसा और करुणा डाक्टर राम मनोहर लोहिया के चिंतन और कर्म का केंद्रीय तत्त्व रहे हैं। कोई चाहे तो उनके समाजवाद को पश्चिम के समाजवाद के एक रूप के तौर (और उस अर्थ में गांधी और जेपी वगैरह को भी) पर मान सकता है, पर बिना भारतीयता को जाने, बिना धर्म के आधार को समझे, बिना ऋषियों से लेकर महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य और विवेकानंद को जाने हम लोहिया को नहीं समझ सकते। डाक्टर लोहिया ने—'राजनीति अल्पकालिक धर्म है और धर्म दीर्घकालिक राजनीति है'—जैसा अद्‌भुत सूत्र-वाक्य सिर्फ स्वयं को सार्थक से अलग बताने भर के लिए ही नहीं दिया था।

ईश्वर के आगे सभी समान हैं, यह बुनियादी मान्यता एशिया और भारत के चिंतन का आधार रहे हैं और इसमें आई गड़बड़ियों के लिए कोई अमीर और ताकतवर तो 'दोषी' हो सकता है, लेकिन गरीब, नालायक और अयोग्य (जैसे वर्ग चेतना से रहित होना) होने के चलते वह वंचित है—यह मान्यता लोहिया के यहां एकदम नहीं है। कर्मफलवादी व्यवस्था पर डाक्टर साहब कभी सहमत नहीं थे।

असल में डा. लोहिया न तो कर्मफलवाद में भरोसा करते थे, न निष्काम कर्म में। उनका स्पष्ट मानना था कि कामना रहित कर्म मुश्किल है। साथ ही वे कामना वाले कर्म को दूषित मानते थे। सो उन्होंने निराशा में रहने और कर्तव्य करने का सिद्धांत दिया—'निराशा के कर्तव्य'। राष्ट्रीय निराशा (बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य के बाद अंदरूनी अन्याय के खिलाफ 1500 वर्षों में कभी विद्रोह न करना), अंतरराष्ट्रीय निराशा (मशीनों में पश्चिम की बढ़त, अंतरराष्ट्रीय जमींदारी, पैदावार में गैर-बराबरी, दिमागी साम्राज्यवाद और दामों में साम्राज्यशाही के खिलाफ बगावत न करना) और मानवीय निराशा (अन्याय से लड़ाई और न्याय के निर्माण में संतुलन न रहना) की विशद व्याख्या के साथ उन्होंने अपने लिए और अपने साथियों के लिए स्पष्ट लक्ष्य बनाए। उनके साथियों और शिष्यों में से इन पर किसने, कितना अमल किया—यह अलग मूल्यांकन की चीज है, लेकिन लोहिया ने जीवन भर जो कुछ किया, जो सहा और जिस तरह से हंस-हंस कर जीवन जिया उसके मूल में यही दर्शन है। और, यही उनकी निर्भीकता का असली स्रोत भी है।

इसी तरह करुणा ही वह केंद्रीय तत्त्व है, जो डाक्टर लोहिया (और उन जैसे दार्शनिकों-नेताओं) को जीवन भर संघर्ष करने और कभी शांत न बैठने के लिए प्रेरित करती रही। अगर कमजोर, बेजुबान और गरीब के प्रति उनके मन में करुणा न होती, तो वे भी सुख-चैन का जीवन जीते, सत्ता में जाते या प्रोफेसरी पाते। यही करुणा डाक्टर लोहिया को बुद्ध, महावीर, मोहम्मद, शंकराचार्य, गांधी की परंपरा से जोड़ती है और उनके एशियाई समाजवादी दर्शन का आधार तैयार करती है। लोहिया की सोच और मार्क्स की परंपरा वाले समाजवादी सोच में बहुत बड़ा अंतर है। तभी लोहिया मार्क्सवाद को ईसाइयत और उपनिवेशवाद के बाद तीसरी दुनिया के खिलाफ यूरोप का नवीनतम हथियार बताते हैं। मार्क्सवादी भावुकता और करुणा के अंतर को समझे बिना लोहिया की बात को, उनके एशियाई समाजवाद के नारे को समझा ही नहीं जा सकता। ऐसा सिर्फ लोहिया के साथ नहीं है। सबसे ज्यादा मार्क्सवादी कहे जाने वाले आचार्य नरेंद्र देव के चिंतन पर भी बुद्ध की करुणा का प्रभाव सबसे ज्यादा है।

राजनीति और जीवन के क्षेत्र में करुणा का ही वास्तविक विस्तार और ठोस रूप अहिंसा है। डाक्टर लोहिया पूर्ण अहिंसा में विश्वास करते थे। किसी की जान लेना उनकी नजर में सबसे बड़ा गुनाह था और इस बात को व्यावहारिक राजनीति, राजनीतिक संघर्षों से लेकर फौज तक पर उतारते हुए सारे संहारक अस्त्रों और फौज की समाप्ति की वे वकालत भी करते थे। असल में वे हिंसा को कमजोरों का हथियार मानते ही नहीं थे। उन्हें लगता था कि किसी भी स्थिति में कमजोरों की हिंसा अंततः उनका ज्यादा नुकसान ही करेगी, क्योंकि ताकतवर वर्ग या संगठित शक्ति वाले शासन को इससे ज्यादा हिंसा करने का बहाना मिल जाता है। व्यावहारिक राजनीति के चलते उन्हें खुद कई बार ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा, जिसमें उनकी जान जा सकती थी। इसीलिए उन्होंने अहिंसा की अपनी मान्यता पर कभी भी शक नहीं किया। हां, सन् बयालीस की जनक्रांति के समय उन्होंने जरूर सरकारी संपत्ति को नुकसान पहुंचाने और लोगों को चोट न पहुंचाने वाली तोड़फोड़ की वकालत की थी।

डाक्टर राम मनोहर लोहिया के दर्शन में समता और समृद्धि की भी बड़ी जगह है। उनकी नजर में गैर-बराबरी और अन्यायकारी दुनिया की समृद्धि तथा समतावादी समाज की समृद्धि में फर्क है। समता का मतलब ही समृद्धि का बंटवारा है, पर इस तत्त्व से भी ज्यादा प्रधान तत्त्व राष्ट्रीयता है। वे राष्ट्रीय आंदोलन की पैदाइश थे और अंतरराष्ट्रीय स्थितियों को ठीक-ठीक समझने वालों में एक थे। इसी आधार पर उन्होंने कांग्रेस का विदेश सचिव रहते हुए गुटनिरपेक्षता की जो नीति तैयार की, वह वर्षों हमारी विदेश नीति का आधार थी, बल्कि इसी राष्ट्रीय चेतना के चलते वे अंतरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद, भेदभाव, उपनिवेशवाद से हुए नुकसान को ज्यादा अच्छी तरह समझ पाए और विकास के पश्चिमी मोडल को ही नहीं, पश्चिमी दर्शन (मार्क्सवाद) को भी ठुकरा दिया।

वे मानते थे कि हिंदुस्तान का दिमाग 1000-1500 साल से जड़ है। शंकराचार्य के बाद वे गांधी को पहला मौलिक चिंतक मानते थे। कबीर में वे सिर्फ अनुभूतियों की तीव्रता पाते थे—मौलिक चिंतन नहीं। उनका मानना था कि भारत की आंतरिक जड़ता और पराधीनता के खिलाफ एक वास्तविक सुगबुगाहट स्वामी विवेकानंद में दिखाई देती है, जो तिलक से होते हुए गांधी तक प्रबल हुई। फिर भी लोहिया ने गांधी के मूल्यांकन और उनके नजरिए से असहमति व्यक्त करने में कोई कंजूसी नहीं की है (अकसर वे बोलने और लिखने की अपनी कंजूसी को अपने बनिया होने से जोड़ते थे)। गांधी के जीवन के आखिरी आठ-दस वर्षों में लोहिया उनके काफी करीब आ गए थे, लेकिन दर्शन, कर्म और सोच के मामले में दोनों के बीच के रिश्ते गांधी से इस दूरी-नजदीकी से नहीं समझे जा सकते। लोहिया अपने दर्शन को मार्क्स और गांधी की आलोचना के बीच लाने की कोशिश करते हैं, पर असल में हम गांधी के बिना लोहिया को समझ ही नहीं सकते। डाक्टर लोहिया ने भी अपनी बातों को गांधी के विस्तार के तौर पर ही रखा है। वे पिता या दादा की गोद में मचलने वाले बच्चे की तरह इस भरोसे से अपनी दार्शनिक स्थापनाएं करते हैं कि पहले की बातें गांधी से लें और आगे की चीजों को उसी संदर्भ में समझें।

लोहिया की राजनीति को सामान्य नेता, दार्शनिक या विद्वान वाली कसौटियों के आधार पर नहीं जाना जा सकता। अगर इन पैमानों को अपनाया जाएगा तो समृद्धि की बात, सत्ता की राजनीति में जम कर हिस्सा लेने वाले, जीवन भर बेचैनी भरी राजनीति करने वाले लोहिया का कोई भी तत्त्व समझ में नहीं आएगा।

शेष पृष्ठ 45 पर

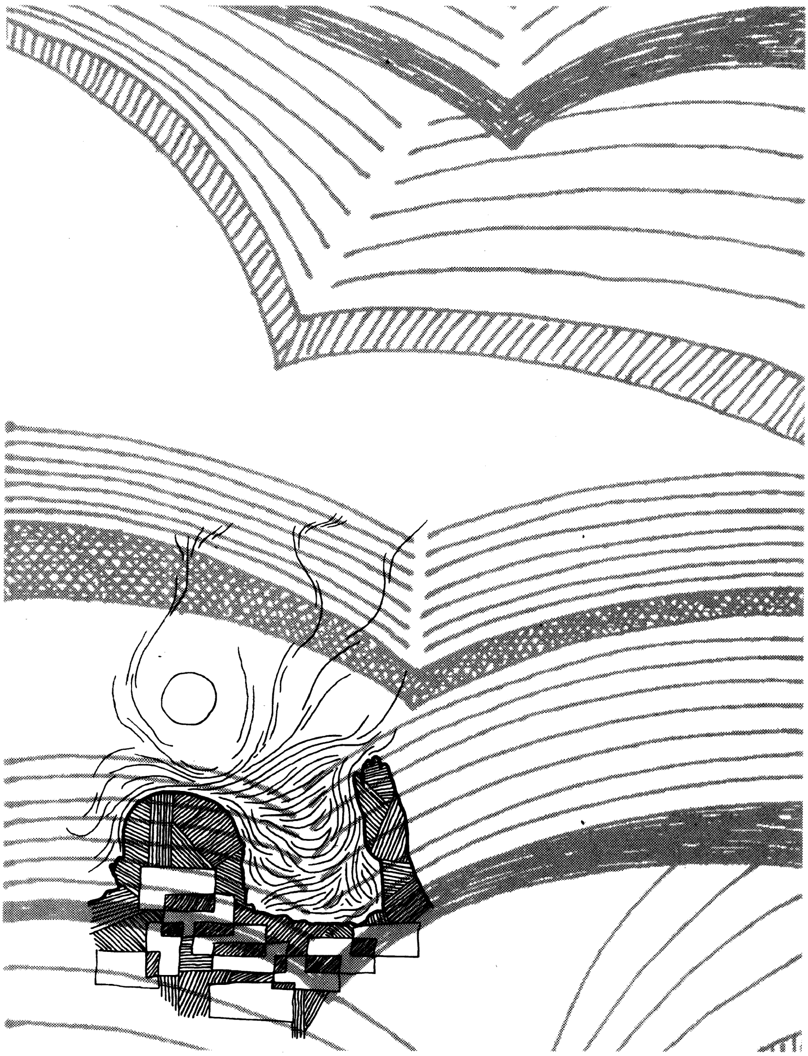

अनुभूति

अगर मनुष्य-जीवन की रक्षा का खयाल न किया जाए तो प्रकृति पर विजय प्राप्त करना, रेलें निकालना, समुद्री जहाज, अजायबघर, बड़े-बड़े कारखाने तथा इसी तरह की चीजें बनाना बहुत सरल हो सकता है। मिश्र के प्राचीन सम्राट अपने निर्माण किए हुए विशाल गुंबदों पर बहुत गर्व करते थे और स्वयं हम लोगों की आंखों में भी उनको देख कर आनंदाश्रु बहने लग जाते हैं; लेकिन ऐसा करते समय हम इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि इन भव्य और भीमकाय गुंबदों (पिरामिडों) का निर्माण करने में असंख्य गुलामों को अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी थी। ठीक इसी भांति हम अपने प्रदर्शन-भवनों, अजायबघरों, फौजी जहाजों, समुद्र के आर-पार लगे हुए तारों और बिजली के कारखानों को देख कर आनंद-मग्न हो जाते हैं और इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि इन चीजों के लिए हमें कैसा मूल्य चुकाना पड़ा है। जब तक ये चीजें गुलामों के द्वारा नहीं, बल्कि स्वाधीन मनुष्यों द्वारा तैयार न होने लगें, तब तक हमें उन पर गर्व न करना चाहिए।

—लियो तोल्स्तोय

धर्म के मौलिक तत्त्वों को लोकजीवन में अवतरित करने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने सन् 1949 में अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। जाति, धर्म, प्रांत, वर्ण, वर्ग आदि भेदभावों से ऊपर उठ कर मनुष्यमात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करने, मनुष्य जीवन की न्यूनतम आचार-संहिता का पालन और देश में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से अणुव्रत का जो अभियान चला—वह एक श्रमिक की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक पहुंचा। घर-घर, गांव-गांव और शहर-शहर में अणुव्रत के संगठन बने। अणुव्रत अनुशास्ता ने इस मिशन के लिए व्यापक जनसंपर्क किया और अणुव्रत आंदोलन एक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। अणुव्रत आंदोलन ने हर वर्ग के लोगों को अपने-अपने कार्यक्षेत्र में प्रामाणिक रहने का दिशादर्शन दिया। अस्पृश्यता-निवारण, रूढ़ि-उन्मूलन और व्यसन-मुक्ति इस आंदोलन के विशेष उपक्रम रहे।

आचार्यश्री तुलसी : एक आलोक पुंज; एक शताब्दी पुरुष

❑ साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा

यह एक ऐसे महाचेता की कहानी है, जो धर्म को स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय की गिरफ्त से मुक्त कर लोकजीवन में नैतिक मूल्यों की आस्था और आचार के स्वस्तिक उकेरने के लिए प्रतिबद्ध रहते हुए उसे वर्तमान के साथ जोड़ने के लिए कृतसंकल्प रहा। जो नारी-जाति के शोषण और उत्पीड़न से द्रवित होकर उनके जागरण की दिशा में भगवान महावीर का अनुगमन करता रहा। समाज की अर्थहीन रूढ़ परंपराओं को तोड़ने और नए संदर्भों में नई रेखाएं खींचने के लिए जिसका आह्वान दिग्‌दिगंत में गूंजता रहा। जो परंपरित मौलिकताओं की संपूर्ण सुरक्षा के साथ नए मूल्य-मानकों को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील रहा। जिसने संघर्षों में भी सुबह के गुलाब की तरह खिले रहना अपना स्वभाव बना लिया तथा सम्मान और अपमान में जिसके संतुलन की डोर कभी टूटी नहीं। जो पांव-पांव चल कर जनता के साथ सीधा संपर्क साधता रहा। जिसके चेहरे की अद्‌भुत दीप्ति और आंखों की मुस्कान मानवता के लिए आशीष बरसाती रही। जिसने हर वर्ग की चेतना को झकझोरा और प्रभुत्ता के ऊंचे शिखरों पर आसीन प्रभुवर्ग को जमीनी सचाई से रू-ब-रू कराया। उस युगपुरुष महोदधि को निकटता से जानने-समझने की इच्छा किसके मन में नहीं होगी?

वह महामानव, जो 'स्व' की सीमाओं को विस्तार देकर विराट से विराटतम बनता गया। जिन्होंने अपने संपूर्ण जीवन को मानवता की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। जिनके कर्तृत्व को प्रामाणिकता से उजागर किया जाए तो कहा जा सकता है कि ऐसे शक्तिसंपन्न महान आचार्यों का उदय शताब्दियों-सहस्राब्दियों में कभी-कभी ही हो पाता है। कौन है—यह व्यक्तित्व?

शुभ-श्वेत वस्त्रों में झांकता हुआ यह अलौकिक व्यक्तित्व है—आचार्यश्री तुलसी का। आदिम पुरुष भगवान श्री ऋषभ और अंतिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर की परंपरा का सक्षम प्रतिनिधि है—यह महा-मनीषी।

जिसका उज्ज्वल आभामंडल प्रथम दर्शन में ही हर किसी को अभिभूत कर लेता है। जिसका जादुई सम्मोहन चिरकाल तक मानव-मन को बांधे रखता है। जिसकी वाणी देखती है, आंखें बोलती हैं और मन सुनता है। जिसकी पलकों की छाया में नए-नए सपने पलते हैं और आत्मविश्वास के फल पर वे साकार हो उठते हैं। जिसके चित्त में स्वर्ग को धरती पर उतार लाने की चाह है।

धर्मकांति का शंखनाद

जैन परंपरा के इतिहास में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने जिनशासन की सर्वतोमुखी प्रभावना में अपनी क्षमता का उपयोग किया है। उस आचार्य परंपरा में आज भी कुछ व्यक्तित्व ऐसे हैं, जो अपने अतीत को उजागर कर रहे हैं, वर्तमान को संवार रहे हैं और भविष्य की संभावनाओं को संजो रहे हैं। एक परंपराविशेष को आगे बढ़ाते हुए भी वे समग्रता से सोचते हैं और उसी दृष्टि से काम करते हैं। एक संप्रदाय की सीमाओं से आबद्ध रह कर भी वे धर्म को सदा उससे ऊपर मानते हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने जब इसी तरह की संप्रदायातीत उद्घोषणाएं कीं तो रूढ़ परंपरावादी धर्मनेता चौंके। धर्म के संबंध में बंधी-बंधाई अवधारणाओं में अनुष्ठानप्रधान पारंपरिक स्वरूप ही प्रतिबिंबित होता रहा है। प्रवचन सुनना, माला फेरना, मंदिर जाना, पूजा करना और साधु-साध्वियों की उपासना करना—बस यही धर्म माना जाता था। धर्म के प्रायोगिक रूप की उपेक्षा तथा अवैज्ञानिक परंपराओं एवं कर्मकांडों का निर्वाह ही धर्म था। ऐसे समय में आचार्यश्री तुलसी ने धर्मकांति के स्वर का निनाद किया और उसके लिए पांच सूत्र दिए—

विक्रम संवत 1971, कार्तिक शुक्ला द्वितीया (20 अक्टूबर, 1914) को लाडनूं, राजस्थान में जन्मे आचार्यश्री तुलसी की मुनिदीक्षा भी लाडनूं में ही 5 दिसंबर, 1925, वि.सं. 1982, पौष कृष्णा पंचमी को हुई। गंगापुर, राजस्थान में 26 अगस्त, 1936, वि.सं. 1993, भाद्रपद शुक्ला नवमी को तेरापंथ धर्मसंघ के नवम आचार्य के रूप में पदारूढ़ हुए। 2 मार्च, 1949, वि.सं. 2005, फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर, राजस्थान में अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। 4 फरवरी, 1971, वि.सं. 2026, माघ शुक्ला सप्तमी को बीदासर, राजस्थान में 'युग प्रधान' और 14 फरवरी, 1986, वि.सं. 2042, माघ शुक्ला पंचमी को उदयपुर, राजस्थान में 'भारत-ज्योति' से अलंकृत किए गए। सेंट्रल इंस्टिट्यूट ऑफ हायर तिब्बतन स्टडीज, सारनाथ, वाराणसी ने 14 जून, 1993, वि.सं. 2050, आषाढ़ कृष्णा दशमी को लाडनूं में 'वाक्पति' उपाधि से विभूषित किया। 31 अक्टूबर, 1993, वि.सं. 2050, कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा को दिल्ली में 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता सम्मान व पुरस्कार' प्रदान किया गया। 18 फरवरी, 1994, वि.सं. 2050, माघ शुक्ला सप्तमी को सुजानगढ़, राजस्थान में 'गणाधिपति' से अलंकृत किया गया।

इस निःश्रेयस व्यक्तित्व ने 23 जून, 1997 वि.सं. 2054, आषाढ़ कृष्णा तृतीया को गंगाशहर, राजस्थान में महाप्रयाण किया।

— **बौद्धिकता**—धर्म बुद्धिगम्य होना चाहिए। केवल अंधविश्वास के आधार पर उसकी गाड़ी को खींचना संभव नहीं है। बौद्धिक लोग उसे तर्क के आधार पर समझें और जीवन में उतारें।
— **प्रायोगिकता** — धर्म केवल सुनने का नहीं, जीवन की प्रयोगशाला में परीक्षणीय तत्त्व है। धार्मिक कहलाने वाले अपने जीवन में धर्म का प्रयोग करें और उसका परिणाम प्रस्तुत करें।
— **समाधायकता**—धर्म से व्यक्ति, समाज और देश की समस्याओं का समाधान होना चाहिए।
— **वर्तमान प्रधानता**—जिस क्षण धर्म का आचरण, उसी क्षण आनंद की अनुभूति—यही स्थिति धर्म को तेजस्वी बना सकती है। स्वर्ग के प्रलोभन अथवा नरक के भय से धर्माचरण किया जाए, यह बात बच्चों को बहलाने जैसी है।
— **सांप्रदायिक सद्भाव**—अपनी-अपनी परंपराओं के प्रति आस्थावान रहते हुए सब धर्म-संप्रदायों के प्रति समादर और सद्भाव का विकास करना।

विचार-भेद से संप्रदाय का उद्भव होता है, पर विचार-भेद या संप्रदाय-भेद समस्या नहीं है। समस्या है—वैचारिक कट्टरता या सांप्रदायिकता। आचार्यश्री तुलसी ने सांप्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से भी पांचसूत्र दिए— ● अपनी मान्यता

का प्रतिपादन हो, दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न हो। ● दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रहे। ● दूसरे संप्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना न फैलाई जाए। ● कोई संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न हो। ● धर्म के मौलिक तत्त्वों को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

अणुव्रत की फलश्रुति

धर्म के मौलिक तत्त्वों को लोकजीवन में अवतरित करने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने सन् 1949 में अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। जाति, धर्म, प्रांत, वर्ण, वर्ग आदि भेदभावों से ऊपर उठ कर मनुष्यमात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करने, मनुष्य जीवन की न्यूनतम आचार-संहिता का पालन और देश में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से अणुव्रत का जो अभियान चला—वह एक श्रमिक की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक पहुंचा। घर-घर, गांव-गांव और शहर-शहर में अणुव्रत के संगठन बने। अणुव्रत अनुशास्ता ने इस मिशन के लिए व्यापक जनसंपर्क किया और अणुव्रत आंदोलन एक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। अणुव्रत आंदोलन ने हर वर्ग के लोगों को अपने-अपने कार्यक्षेत्र में प्रामाणिक रहने का दिशादर्शन दिया। अस्पृश्यता-निवारण, रूढ़ि-उन्मूलन और व्यसन-मुक्ति इस आंदोलन के विशेष उपक्रम रहे।

आचार्यश्री तुलसी ने ये अभिक्रम उस समय चलाए, जब समाज में छुआछूत प्रबल था। दलित वर्ग के लोगों के प्रति घृणा और हीनता के भाव थे। उनके स्पर्शमात्र को भी पाप माना जाता था। अणुव्रत के मंच पर आज सब लोग एक साथ बैठते हैं और ये भावनाएं समाप्त प्रायः हैं। इसके लिए तब उन को अपने ही समाज की आलोचनाएं झेलनी पड़ी थीं, विरोध सहना पड़ा था, किंतु वे आलोचनाएं और विरोधभरी बातें अब मानवीय एकता के प्रति विश्वास के रूप में प्रतिफलित हो रही हैं।

इसी तरह रूढ़ि-उन्मूलन का अभियान चला और इसका भी प्रबल विरोध हुआ। साधु-संतों को समाज की परंपराओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए—इस अभिमत की आड़ में न जाने क्या-क्या कहा गया। उन सब बातों को सुन कर तब यदि इस अभियान को शिथिल कर दिया जाता तो समाज कुरूढ़ियों के दलदल में फंसा ही रहता। पर्दाप्रथा, दहेजप्रथा, मृत्युभोज, विधवाओं के प्रति दुर्व्यवहार आदि ऐसी कुरूढ़ियां प्रचलित थीं, जो संस्कारगत हो गई थीं। उनको तोड़े बिना समाज में किसी नए उन्मेष की संभावना नहीं थी। आचार्यश्री तुलसी ने विचारक्रांति का जो अभियान चलाया, उससे एक वातावरण बना और रूढ़ि-उन्मूलन की दिशा में पूरी सक्रियता के साथ काम शुरू हो गया।

धर्म के क्षेत्र में नवीन प्रयोग

आचार्यश्री तुलसी ने उपदेश की अपेक्षा प्रयोग में अधिक विश्वास किया। उन्होंने सन् 1962, उदयपुर चातुर्मास में मुनि नथमलजी (आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) से परामर्श कर एक निर्देश दिया कि—'साधना के क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रयोग करो, जो वैज्ञानिक हों और जिनका कोई परिणाम निकलता हो।' संकेत मिलते ही मुनि नथमलजी जुट गए और एक सफल वैज्ञानिक की तरह शोध और प्रयोग के बाद उन्होंने साधना की एक नई पद्धति निर्धारित की। आज 'प्रेक्षाध्यान' के रूप में जो लोकप्रियता इसने अर्जित की है—वह उसकी उपयोगिता का स्वयंभू प्रमाण है। तनाव, असंतुलन, उत्तेजना आदि इस युग की ज्वलंत समस्या हैं और इससे पीड़ित लोगों ने इस पद्धति का प्रयोग कर राहत पाई है। प्रेक्षाध्यान शिविरों में किए गए परीक्षणों ने प्रेक्षाध्यान के नतीजों को विश्वास-रूप में परिणत कर दिया है। प्रेक्षाध्यान के साथ 'जीवन-विज्ञान' के प्रयोग आज के शिक्षा-जगत की समस्याओं का समुचित समाधान हैं।

कर्तृत्व का साक्ष्य

भारत के पूर्व राष्ट्रपति डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की गणना देश के शीर्ष दार्शनिकों में है। सन् 1961 में वे उपराष्ट्रपति थे। उस समय गंगाशहर (बीकानेर) में आचार्यश्री के आचार्यकाल के सफल पचीस वर्षों की संपन्नता के उपलक्ष्य में 'धवल समारोह' का आयोजन था। उस आयोजन में डा. राधाकृष्णन ने दिल्ली से गंगाशहर पहुंच कर आचार्यश्री को अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया। आचार्यश्री तुलसी के कर्तृत्व का उनके मन पर कितना प्रभाव था, उसका साक्ष्य है—उनकी पुस्तक **लिविंग विथ परपज** (Living With Purpose)। डा. राधाकृष्णन ने भारत के चौदह महान व्यक्तियों का इस पुस्तक में अंकन किया है और उनमें एक नाम आचार्यश्री तुलसी का है। यहां उल्लेखनीय बात यह है कि इस पुस्तक के लेखन और प्रकाशन के समय उन चौदह व्यक्तियों में एक आचार्यश्री तुलसी ही ऐसे व्यक्ति थे, जिनके विचारों और कार्यों से देश

लाभांवित हो रहा था। शेष तेरह व्यक्ति वे थे, जो दिवगंत हो चुके हैं।

व्यक्तित्व-निर्माण की क्षमता

व्यक्तित्व-निर्माण में आचार्यश्री तुलसी की अद्भुत क्षमता रही है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को जिन परिस्थितियों में गढ़ा, कोई विरला व्यक्ति ही गढ़ सकता है। उन्होंने अपने आत्म-निर्माण के साथ-साथ व्यक्ति-निर्माण का लक्ष्य बना कर इस क्षेत्र में सघन काम किया। यह गुण उनमें नैसर्गिक था। उनके दीक्षागुरु श्रद्धेय आचार्यश्री कालूगणी ने सोलहवर्षीय मुनि तुलसी को तत्समय के नवदीक्षित मुनियों के अध्यापन का कार्यभार सौंप दिया था। मुनि तुलसी ने जिस कुशलता से काम संभाला, देखने वाले विस्मित हो गए। पुस्तकीय शिक्षा एक बात है, पर समग्र जीवन की शिक्षा देने वाले शिक्षक तो कोई-कोई ही होते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी पाठशाला में पढ़ने वाले विद्यार्थी मुनियों को इतना तैयार कर दिया कि उनमें कई मुनि तो अपने वक्तृत्व और कर्तृत्व से तेरापंथ धर्मसंघ की विशेष प्रभावना करने में सक्षम हो गए।

नारी जाति का जागरण

साधुओं को पढ़ाना और तैयार करना श्रमसाध्य काम तो था, पर इतना कठिन नहीं था। सबसे अधिक कठिन काम था—साध्वी-समाज को शिक्षित और प्रबुद्ध बनाना। तत्कालीन सामाजिक मानदंडों के कारण महिलाओं को अक्षरज्ञान से अधिक शिक्षा देने की जरूरत ही नहीं समझी जाती थी। यही हालत साध्वियों की थी। उनकी मानसिकता को बदल कर शिक्षा की ओर उन्हें आकर्षित करने में आचार्यवर को निरंतर कई वर्षों तक परिश्रम करना पड़ा। उन्होंने अपने जीवन में किसी भी काम को असंभव नहीं माना, अतः साध्वी-समाज में आज जो शैक्षणिक, साहित्यिक एवं अन्य क्षमताएं दृष्टिगत हो रही हैं—वह आचार्यश्री तुलसी के पुरुषार्थ की ही फलश्रुति है। साध्वी समाज को गतिशील बनाने के साथ-साथ संपूर्ण नारी जाति के जागरण की दृष्टि से उन्होंने जो अभियान चलाया, वह भी अपने आप में अद्भुत है।

साहित्यिक उन्मेष

आचार्यश्री तुलसी बहुंभाषाविद रचनाकार थे। हिंदी, राजस्थानी और संस्कृत भाषा में उन्होंने अनेक उल्लेखनीय ग्रंथों की रचना की। उनकी सृजन-चेतना का वैशिष्ट्य यह है कि वे साहित्य के ही नहीं, साहित्यकारों और प्रखर विचारकों के भी सर्जक रहे। प्रेक्षाध्यान और अणुव्रत के साहित्य ने बहुविद पाठक वर्ग में जो ललक जाग्रत की है, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

साहित्य-सृजन की तरह साहित्य-संपादन भी एक कला है। आचार्यश्री के निर्देशन में अनेक प्रकार के साहित्य का संपादन हुआ। इसमें एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है—आगम साहित्य का संपादन। भगवान महावीर ने त्रिपदी के रूप में जो सत्य दिया, गणधरों ने जिसको विस्तार दिया और उत्तरवर्तीकाल में ताड़पत्रों या कागजों पर जो अंकित/टंकित हुआ—उस साहित्य को आधुनिक वैज्ञानिक और असांप्रदायिक दृष्टि से संपादित करने की अपेक्षा लंबे समय से महसूस हो रही थी। आचार्यश्री तुलसी ने उस अपेक्षा को समझा और आगम साहित्य के संपादन का संकल्प ले लिया। ज्योंही यह संकल्प प्रकाश में आया, अनेक विद्वानों में तीखी प्रतिक्रिया हुई। उनके मन में यह संदेह उभरा कि कोई भी मुनि या आचार्य यदि जैन आगमों पर काम करेंगे तो उसमें सांप्रदायिकता का पुट रहेगा ही। पर, आचार्यश्री ने काम प्रारंभ करने से पहले ही अपनी नीति घोषित कर दी कि मान्यता भेद की स्थिति में उस पर स्वतंत्र टिप्पणी लिखी जा सकती है, किंतु तेरापंथ-दर्शन का 'पुट' कहीं नहीं आएगा। इस नीति के आधार पर पूरी सावधानी के साथ काम हुआ। संपादित साहित्य जब प्रकाशित हुआ और विद्वानों के पास पहुंचा, तो उन्होंने दांतों-तले अंगुली दबा ली। जिस तटस्थता, निरपेक्षता और जागरूकता से काम हुआ—वह आचार्यश्री तुलसी के उदार दृष्टिकोण का परिचायक है।

विरोध का उद्भव

जहां काम होता है, वहां विरोध स्वाभाविक है। कोई भी व्यक्ति सीधी-सपाट जिंदगी जीकर अपनी अस्मिता स्थापित नहीं कर सकता। आचार्यश्री भी जब तक पूर्वाचार्यों द्वारा खींची गई लक्ष्मण रेखाओं पर चलते रहे, उनके विरोध में किसी कोने से कोई स्वर नहीं उठा। वे थोड़े-से आगे बढ़े कि विरोध के स्फुलिंग चमकने लगे। उस विरोध से आचार्यश्री रुके नहीं, अपितु दुगुनी गति आ गई। बाद में भी विरोध उभरता रहा, कभी-कभी तो आमने-सामने बैठ कर खुली चर्चाएं भी होतीं। पर, आचार्यश्री शांत भाव और जागरूकता के साथ उन स्थितियों से निपटते रहे। चिंतनपूर्वक किए गए परिवर्तनों और नए कार्यक्रमों के संदर्भ में हुआ विरोध आखिर कब तक टिकता?

सामान्यतः यह विरोध दो खेमों में बंटा होता। कट्टरपंथी—परंपरा और असहिष्णुता—इन दोनों वर्गों का विरोध आचार्यश्री ने हंसते-हंसते झेला। जब-जब आचार्यश्री ने कोई विशिष्ट काम किया, उनकी कीर्ति बढ़ी। अकारण उठे विरोधों के वातुल में वे जितने निश्चल रहे, कोई रह नहीं सकता। तीव्र विरोध के प्रसंग में एक बार लोकनायक जयप्रकाश नारायण आचार्यश्री तुलसी से मिले। विरोधियों की क्षीण हरकतों के प्रति आचार्यश्री की सहिष्णुता और संतुलन ने उनको विस्मित कर दिया। उन क्षणों में उनकी नजरों में आचार्यश्री का व्यक्तित्व जिस ऊंचाई का स्पर्श कर रहा था, उस ऊंचाई तक विरल व्यक्ति ही पहुंच सकते हैं।

जीवन की कसौटी

अपने जीवन के दो पलड़ों के मध्य आचार्यश्री तुलसी ने पूरा-पूरा संतुलन बनाए रखा। एक पलड़े में ढेरों सम्मान और दूसरे पलड़े में अपमान, क्षोभ और निंदा भरे पुलिंदे। आचार्यश्री तुलसी अपने मान-सम्मान को देख कर कभी खिले नहीं और अपमान को देख कर मुरझाए नहीं। वे बहुत बार कहते—'यदि मुझे सम्मान ही सम्मान मिलता, तो मैं अपनी स्थिति का सही ढंग से आकलन ही नहीं कर पाता और अपमान-ही-अपमान मिलता तो शायद हीन-भावना से ग्रसित हो जाता। यह मेरे लिए बहुत शुभ हुआ कि मुझे जितने उच्च सम्मान और अभिनंदन मिले, उतने ही निम्नस्तर का विरोध भी मिला। मैंने इसे अपने जीवन के लिए कसौटी के रूप में स्वीकार किया।'

संप्रदाय में संप्रदायातीत

आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के नवम अधिशास्ता रहे हैं। ग्यारह वर्ष की किशोर वय में मुनि जीवन स्वीकार कर उन्होंने अपनी आचारनिष्ठा, विनम्रता और विलक्षण क्षमताओं से अपने गुरु आचार्यश्री कालूगणी का अमित विश्वास अर्जित कर लिया था। इसका साक्ष्य है—बाईस वर्ष की अवस्था में प्राप्त आचार्यपद का दायित्व। आचार्यश्री कालूगणी यदि मुनि तुलसी में छिपी हुई असीम क्षमताओं का अंकन कर साहसिक निर्णय नहीं लेते, तो संभव है कि तेरापंथ धर्मसंघ आज इतनी ऊंचाइयों पर नहीं होता। बाईस वर्षीय युवा जिस नजरिए से देख सकता है, जिस ढंग से सोच सकता है और खतरे मोल लेकर चल सकता है—आचार्यश्री तुलसी ने उन युवकोचित गुणों का संतुलन और सहिष्णुता के साथ तब परिचय दिया। पर, तेरापंथ धर्मसंघ के सर्वांगीण विकास से प्रतिबद्ध रहते हुए भी उन्होंने जैन धर्म को कभी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। **जैन धर्म में विश्वधर्म बनने की अर्हता है**—उन्होंने यह अभिमत व्यक्त ही नहीं किया, इसकी यथार्थता को प्रमाणित करने का अविराम प्रयत्न भी किया।

जैन विश्व भारती और समणश्रेणी की स्थापना जैन धर्म को व्यापकता देने के लक्ष्य की ही फलश्रुतियां हैं। संसार की आत्मघाती सभ्यता से दंशित मानसिकता को जैन धर्म ही त्राण दे सकता है—इस दृष्टि से जैन धर्म और प्राच्य जैन- विद्याओं पर शोध एवं प्रयोग की दिशा में जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय आज अपने ढंग से काम कर रहा है। उसकी सृजन प्रक्रिया सत्य को पहचानने की प्रक्रिया है। साधना, शिक्षा, सेवा और संस्कृति आदि के संदर्भ में वहां व्यवस्थित प्रवृत्तियां चल रही हैं।

मुनि और गृहस्थ के बीच की कड़ी समणश्रेणी है। इस श्रेणी की स्थापना बहुमुखी उद्देश्य से हुई है। जिसका एक उद्देश्य है—विश्व स्तर पर जैन धर्म के व्यापक और अनेकांतवादी दृष्टिकोण की मार्मिकता को समझना-समझाना और इस तरफ चिंतन करना। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राथमिक काम हुआ है और भविष्य की संभावनाएं भी उजागर हुई हैं। आचार्यश्री तुलसी के इस कार्य को सर्वत्र साहसिक कार्य माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे अपने समकालीन आचार्यों में ही नहीं, लंबी आचार्य-परंपरा में एक संपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में मान्य हुए हैं।

एक शताब्दी पुरुष

आचार्यश्री तुलसी को मैं एक महासूर्य के रूप में देखती हूं। सूर्य की दो भूमिकाएं मानी गई हैं—रोशनी और रवानी। सूर्य सदा गतिशील है। उसने कब चलना प्रारंभ किया और कब तक चलता रहेगा, ये सवाल किसी जवाब की अपेक्षा ही नहीं रखते हैं। सूर्य केवल गति ही करता तो बहुत उपकारी नहीं माना जाता। वह अंधेरे में डूबे हुए विश्व को प्रकाश से नहलाता है। सूर्य के पास प्रकाश है और ऊर्जा भी है। ऊर्जा के सहारे क्या-क्या कार्य निष्पादित हो रहे हैं, यह बताने की जरूरत नहीं। आचार्यश्री तुलसी गति, प्रकाश और ऊर्जा के पर्यायवाची रहे हैं। उन्होंने पांव-पांव चल कर इस देश की धरती को मापा है। वे जहां-जहां गए, हर वर्ग के लोग उनसे प्रभावित हुए। उन्होंने व्यक्ति, समाज और

राष्ट्र की समस्याओं को खुली आंखों से देखा और खुले दिमाग से उनका समाधान खोजा। उन्होंने चिंतन के नए क्षितिज खोले। उनमें लकीर से हट कर चलने का साहस था। उनका नेतृत्व घटनाओं के प्रवाह में बहने वाला नहीं था। वे हर घटना के रुख को मोड़ना जानते थे। उनका देदीप्यमान आभा मंडल, शीतल, सम्मोहक और प्रभावपूर्ण आंखों की चमक में भटकते प्राणी को त्राण मिलता था। जो भी उनके संपर्क में आता, वे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर पूरी तरह से उनके होकर रह जाते थे। उनके रोम-रोम से झरने वाले वात्सल्य का परस पाकर पाषाण-दिल पिघल जाते। उनके निकट बैठने वाले व्यक्ति ऐसा अनुभव करते मानो वे विशाल वटवृक्ष की शीतल छाया में आश्वस्त होकर विश्राम कर रहे हैं।

प्रभावी प्रवक्ता

आचार्यश्री तुलसी कुशल प्रवचनकारी थे। उनके प्रवचन का प्रतिपाद्य शब्दों से अधिक उनकी भावभंगिमा के द्वारा श्रोताओं के मन में उतरता था। यह क्षमता हर किसी प्रवक्ता में नहीं मिलती। वक्ता की मुद्राओं और शब्दों में सामंजस्य स्थापित होने से वक्तृत्व जितना प्रभावी होता है, सामान्यजन के लिए केवल विद्वत्ता से उतना प्रभाव नहीं पड़ पाता। आचार्यश्री का प्रवचन सुन कर एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने कहा—'ओजपूर्ण प्रवचन भी बहुत सहजता से संप्रेषित हो जाता है। संप्रेषण की प्रक्रिया देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई गली हुई धातु एक नमनीय आकृति में ढल रही है।' भिन्न-भिन्न परिवेश में जीने और विभिन्न भाषा बोलने वाले लाखों-लाखों लोगों के मन पर उनके प्रवचन की छाप रही है।

वीतराग चेतना के प्रतीक

आचार्यश्री तुलसी का आभामंडल उज्ज्वल, आकर्षक और किसी हद तक बड़ा रोमांचक था। उनके अवग्रह में बैठने वालों को जिस अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति होती, उसे वे जीवनभर नहीं भूल पाते थे। शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्ति भी उनकी सन्निधि पाकर आह्लादित हो जाते थे। एक बार तो वे अपने सारे कष्ट ही भूल-से जाते थे। गहरी निराशा और अवसाद के क्षणों में वे आशा के निर्झर-आलोक बन कर व्यक्ति को उत्साह से भर देते थे। उनके अपने जीवन में भी अनेक ऐसे क्षण आए, जो धैर्य का बांध तोड़ने के लिए उत्कंधर थे, पर उनकी अविचल धृति ने कुछ प्रसंगों में तो सब लोगों को अभिभूत कर दिया। धर्मसंघ के सर्वोच्च अनुशास्ता होने के कारण उन्हें अनेक बार ऐसे निर्णय लेने पड़े, जिनसे पहले या पीछे व्यक्ति सहज नहीं रह सकता। उन प्रसंगों में आचार्यश्री की सहजता ने उनको स्थितप्रज्ञता के शिखर तक पहुंचा दिया। गंगापुर, सरदारशहर, कलकत्ता, रायपुर, चूरू, दिल्ली आदि क्षेत्रों में घटित घटनाएं स्मरणमात्र से कंपन पैदा कर देती हैं। उन घटनाओं की आचार्यश्री तुलसी ने जिस निष्पृहता के साथ समीक्षा की, उससे आभास होता है कि उनकी चेतना वीतरागता की दिशा में अग्रसर थी।

अतिवाद से मुक्त

अंधश्रद्धा और शुष्क तर्कवाद—दोनों अतिवादों से दूर रह कर उन्होंने धर्म को यथार्थ का ठोस धरातल दिया। उनके धार्मिक प्रवचन सुन कर नास्तिक माने जाने वाले लोग आंतरिक उल्लास से भर जाते। बहुत से लोग तो उनके चरण छूकर अपनी श्रद्धा व सहमति प्रकट करते। उनकी विचार-सरणि ने लाखों-लाखों लोगों के चिंतन को नई दिशा दी।

जैन परंपरा और तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य होने पर भी उनका चिंतन कभी उस सीमित घेरे में नहीं रहा। वे समग्र मानव जाति के बारे में सोचते थे और वैश्विक समस्या का समाधान खोजने में तत्पर रहते थे। धार्मिक जगत की समस्याओं को समाहित करने के लिए उन्होंने धर्मक्रांति के सूत्र दिए और धर्म के साथ प्रबुद्धता की बात जोड़ कर उन्होंने अंधश्रद्धा के साथ अपनी असहमति प्रकट की।

धर्म को प्रयोगभूमि बना कर उन्होंने धार्मिक कुरूढ़ियों पर सीधा प्रहार किया। नरक के भय एवं स्वर्ग के प्रलोभन से किए जाने वाले धर्म की धारणा बदल कर पवित्रता को ही धर्म की निष्पत्ति बताया। धर्म का आचरण करने पर भी अशांति की समस्या का समाधान न हो—वह धर्म अपनी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है। यह विचार देकर उन्होंने धर्म की समाधायक भूमिका से जनता को अवगत कराया। धर्म के नाम पर होने वाली लड़ाइयों के इतिहास को बदलने के लिए उन्होंने धर्म के उस स्वरूप को उजागर किया, जो सब धर्मों के प्रति सद्भावना का प्रेरक है।

काश! इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करते समय इस युग को उनका सीधा दिशादर्शन उपलब्ध हो पाता, किंतु बीसवीं सदी का आखिर दशक अपने इतिहास के एक पृष्ठ में उस युगपुरुष के महाप्रयाण की गाथा लिख गया। ❖

अंधकार यदि बुराइयों का प्रतीक है तो अर्थ यह हुआ कि मनुष्य केवल अच्छाइयों से अपूर्ण है।
उसे पूर्णता की ओर ले जाने वाली शक्ति प्रकाश है।
उसी को पाने के लिए मनुष्य सतत संघर्षरत है।
अपनी दौड़ में वह अंधकार पर थूकता है और उसे गालियां देता है।
और निरंतर संघर्ष करते हुए, अंधकार को पराजित न कर सकने की अपनी अक्षमता के सामने वह दीपक का सहारा लेता है। ●●

हमारे अंधेरे कमरे के कोने में जो हीरे की कनी की तरह प्रज्वलित ज्योतिपुंज है—वह है ईमानदारी!
हमारे भीतर की ईमानदारी दुनिया के समूचे अंधकार से एकसाथ लड़ने की सामर्थ्य रखती है।
तो हम केवल एक दीपक ही जलाएं और उसे ही अपनी जीवन-यात्रा का पथ-प्रदर्शक मान लें।
ईमान के दीपक से बड़ा कोई दिया आज तक न स्थिर जल सका है और न अंधेरे को पी सका है। ●●

ज्योतिपर्व दीपावली विशेष

प्रकाशपुंज : दो शब्द चित्र

□ राजेन्द्र अवस्थी

प्रकाश : पूर्णता की शक्ति

वह दीपक जला रही थी और कोई अलक्ष्य हाथ उसे बार-बार बुझा जाता था।

उसने पूछा—'कौन हो तुम?'

उत्तर में एक अट्टहास प्रतिध्वनित हुआ—'मैं शाश्वत सत्य हूं। न मुझे बांधा जा सकता, न मिटाया जा सकता, न तोड़ा जा सकता और न बांटा जा सकता! मैं अंधकार हूं।'

सतत प्रयत्न करने के बाद भी वह युवती दीपक नहीं जला सकी!

युग-पर-युग बीत गए, अंधेरा नहीं गया, दीप चिरंतन नहीं रह सका!

इसलिए अंधकार एक सत्य है और जीवन की अनिवार्य नियति है।

● ● ●

अंधकार से विद्रोह एक निरंतर प्रक्रिया है। कवियों ने उस पर विजय के स्रोत खोजने की अपेक्षा हमें भटकाया अधिक है।

कहा गया है : दीपक महाज्योति है। दीपक महाशक्ति है। वह प्राणवायु है और अंधकार पर शासन करता रहा है।

सत्य क्या इनसे विपरीत नहीं है?

ज्योति पर निरंतर आक्रमण करते हुए पतंगे एक स्वर नहीं छोड़ते?

हम आशिक हैं अंधेरे के—

जल कर तुम उसे बुझाना चाहते हो?

इसलिए हम—

बार-बार तुम पर आक्रमण करते हैं!

पतंगे अंधकार-प्रिय हैं, इसीलिए वे प्रत्येक ज्योति पर टूट पड़ते हैं।

थके हुए क्षणों के लिए अंधेरा आवश्यक है!

अंधेरा अनिवार्य है, प्रकाश की प्रतीक्षा के लिए।

रात अनिवार्य है, नए जीवन के लिए।

जिन देशों में सूर्य नहीं डूबता, वे बनावटी अंधकार बना कर कमरे में छिपते हैं।

सच यह है कि प्रकाश ही जीवन नहीं है। दुनिया का सारा सुख आदमी को पागल बना देता है।

संपत्ति और समृद्धि की प्रतीक लक्ष्मी का वाहन दीपक नहीं है।

दीपक प्रेम का इष्ट नहीं है, वह प्रेम में बाधक है।

दीपक स्वयं में कोई शक्ति नहीं है। उसे शक्ति देने वाला स्नेह जब समाप्त हो जाता है, ज्योति लड़खड़ा उठती है।

दीपक के प्रतीक, चाहे वे प्राकृतिक हों या मशीनी—शाश्वत नहीं हैं।

नश्वर और सामर्थ्यहीन दीपक तब दूसरों को कितना, क्या दे सकता है?

● ● ●

अंधकार महाबली है, अनंत है। वह सहस्र दीपकों के प्रकाश को भी आत्मसात कर लेता है।

महा अंधकार के बीच जलती एक दीप-ज्योति चिता की भयावह अग्नि का आभास देती है।

विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपराध अंधकार में नहीं, प्रकाश में अधिक होते हैं। (वैज्ञानिकों का कहना है कि पूर्णिमा की रात्रि अपराध का अग्रणी केंद्र है, क्योंकि महासागर की तरह मनुष्य के भीतर के जल पर भी चंद्रमा का प्रभाव पड़ता है)

सभी विकसित और प्रकाशित हो जाएं तो भेद की संज्ञा कहां रहेगी?

● ● ●

अंधकार यदि बुराइयों का प्रतीक है तो अर्थ यह हुआ कि मनुष्य केवल अच्छाइयों से अपूर्ण है।

उसे पूर्णता की ओर ले जाने वाली शक्ति प्रकाश है।

उसी को पाने के लिए मनुष्य सतत संघर्षरत है।

अपनी दौड़ में वह अंधकार पर थूकता है और उसे गालियां देता है।

और निरंतर संघर्ष करते हुए, अंधकार को पराजित न कर सकने की अपनी अक्षमता के सामने वह दीपक का सहारा लेता है।

तो आओ, हम आज एक सत्य को पहचानें, अंधकार की सत्ता को स्वीकारें और उसके बीच प्रकाश की किरणें पैदा कर अपने साथ अंधेरे को भी बदलते चलें। अन्यथा वह दीप जलाती रहेगी और अंधकार उसे पीता रहेगा।

प्रकाश की सार्थकता

हम अपने प्रश्न के उत्तर के कगार पर खड़े हैं—यही वह दीपक है, जिसके प्रकाश में सार्थकता है।

यह ईमान का दिया है।

ईमान से टूटा आदमी छल, प्रपंच, संकट, अनास्था, अश्रद्धा और अंधकार से ग्रसित होता है। उसकी नियति वृक्ष से टूटे हुए उस फल की तरह है, जिसे अपने जीवन का सारा सत्त्व देकर भी दूसरे आसानी से उठा कर खा लेते हैं।

ईमान का विरोधी शब्द नहीं है।

व्याकरण ने जो शब्द दिया है—वह निरर्थक है। व्याकरण आखिर में एक मशीनी प्रक्रिया है। मौलिकता का वह विरोध करती रही है और अपने विरोध से हमेशा पराजित भी हुई है।

सत्य तो यह है कि ईमानदारी से अधिक प्रकाशित और आलोकित शक्ति दूसरी नहीं है।

वह निर्भीक आत्मा का अभिनंदन-द्वार है और मनुष्य-चेतना के प्रकाश की सत्य-किरण है, जो सहस्र सूर्यों की किरणों से भी अधिक दीप्तिमान है।

● ● ●

आइए, रोज नहीं तो आज इस सचाई को हम पहचान लें।

परंपराओं की मर्यादा बनाए रखने के लिए हम भले ही आज भी हजारों दीपक जला लें, लेकिन अपनी पहचान खोजने की कोशिश हम उनमें न करें।

हमारे अंधेरे कमरे के कोने में जो हीरे की कनी की तरह प्रज्ज्वलित ज्योतिपुंज है—वह है ईमानदारी!

हमारे भीतर की ईमानदारी दुनिया के समूचे अंधकार से एकसाथ लड़ने की सामर्थ्य रखती है।

तो हम केवल एक दीपक ही जलाएं और उसे ही अपनी जीवन-यात्रा का पथ-प्रदर्शक मान लें।

ईमान के दीपक से बड़ा कोई दिया आज तक न स्थिर जल सका है और न अंधेरे को पी सका है। ❖

जहां जाती उसे एक मर्द तलाशना पड़ता।—'औरत जात अकेली कैसे रे सकती हेगी?'—पहले बाप था, फिर पति, फिर फूफा, फिर जीजा और अब तो बशीर भी सत्तरह का हो चला था। उसने हिम्मत करके एक दिन कह दिया था, अपनी अम्मी से कि—'हम अकेले इ रे लेंगे अब तो। वो दिन और आज का दिन मालिक का शुकर हे, आदमी की तनखा तो हमीं कमा लेते हेंगे, अब हमें आदमी की क्या धौंस? सौ-डेढ़ सौ तो मां-बेटे मिलके बचा भी लेते हेंगे। करने वाले तो अब भी न्याव करते हेंगे कि—'जाओ, रहो तुम्हारा अपना घर है।'—मगर हमने भी के दिया कि अब क्या, अब तो बखत गया और एक बार गया तो फिर गया।'

कहानी

अपना घर

❑ ज्योत्स्ना मिलन

अपने-आप को अलगाते हुए उसने सिर उठाया 'दरवाजा'? हां दरवाजा ही तो था। यानी वह ठगी गई थी? नहीं, ठगी तो नहीं गई थी। उसने जब अपने को गिर पड़ने दिया, तब उसे पता था कि यह दरवाजा है कि इसके पीछे उसका डेरा है। अपने छोटे-से परेशान और बेचैन सिर को वह कभी उस पर पटकती, रगड़ती या धुनती रहती थी, जैसे वह एक चौड़ा और मजबूत सीना हो। ऊपर से नीचे तक उसने दरवाजे को ऐसे देखा जैसे पहली ही बार देख रही हो। फिर वह दीवार को देखने लगी। जगह-जगह से पलस्तर झड़ गया था। छोटी-बड़ी मिलाकर ढेरों दरारें थीं। रहने को तो पिछले पांच सालों से वह यहां रह रही थी और इससे पहले ये उसे कभी दिखी ही नहीं या पहले ये थी ही नहीं?

इस बीच पंद्रह दिनों से वह इस घर से बाहर ही थी। क्या इसी दौरान दरकी थीं दीवारें? उसने उठ कर बारी-बारी से दरारों पर अपनी खुरदरी उंगलियां धीरे-से फेरीं, जैसे इतने से ही वे भर जाने वाली हों। दरवाजा खोलते हुए वह कुछ इस तरह सावधान थी कि घर कहीं उसी की ठपक से लुढ़क न जाए या दीवार में एकाध दरार और न चल जाए!

होने को तो यह मकान मां की ही मिल्कियत था। मां का घर भी और उसका मायका भी। मगर पिछले पांच सालों से वह इस कमरे में रह रही थी। इसलिए चाहती तो उसे अपना घर कह सकती थी, लेकिन कहती कभी नहीं थी।

मगर एक दिन आने तक पेट तो पालना ही था और बखत भी किसी न किसी तरह काटना तो था ही! लिहाजा काम की तलाश में जिस किसी भी घर में जाती, कोई पूछे न पूछे वह पहले ही बता देती—'बाई साब जब तक यां हें करेंगे काम! समय के मारे हुए हें, मगर ये हे के एक दिन तो अपने घर चले ही जाएंगे।'—सुन कर मालकिन तौलती, औरत तो भली मालूम होती है, पर एक तलवार तो हमेशा ही सिर पर लटकती रहेगी कि पता नहीं कब आकर कहने लगे—'आप दूसरी बाई देख लेना साब, हम तो जा रिए हेंगे अपने घर'—और फिर वही की वही परेशानी, फिर दूसरी बाई तलाशो। अच्छा हो यह यहीं रह जाए, अपने घर जाए ही ना, मालकिन उसी क्षण से मनाने लग गई थी।

—'तुम भी तो कमाल औरत हो! तुम्हें परेशानी होगी इसलिए वह गरीब कभी अपने घर लौटे ही नहीं?'—अपने को ही फटकारती हुई मालकिन बुदबुदाई थी।

—'नहीं, नहीं, मेरा मतलब यह नहीं था'—और फिर कुछ झेंपते हुए अमीना से कहा था—'अच्छा ठीक है।

जब तक हो करो, पर जाने लगो तो बताकर जाना, समझी!' 'हौ साब! यां तो धोकेवाली कोई बात ई नई हेगी।'—खुद उसे काम की जरूरत थी और मालकिन को कामवाली की। जो भी, जैसी भी जितने भी दिन के लिए मिले, रख लो और ऐसी एक-दो नहीं, कई सारी मालकिनें थीं। सो उसे पांच-सात घरों में काम तुरंत मिल गया।

मगर मुसीबत तो एक ही थी। जहां कहीं जाते मालकिन पूछती ही—'क्या नाम है तुम्हारा? कहां है तुम्हारा घर?'—'अब कहां को बताते अपना घर? बहन के रहे तो बहन का घर, फूफी के रहे तो फूफी का, भाई के रहे तो भाई का ओर अब मां के रेते हेंगे तो मां का घर।'—इस एक सवाल का जवाब देते हुए हर बार उलझन में पड़ जाती थी—वह, जैसे बड़ा भारी संकट आ पड़ा हो। कहीं न कहीं तो बताना ही था—अपना घर और चट-से बताना था, जिससे किसी को कुछ भी पता न चले। इसलिए उसने सोच लिया एक जगह का नाम—'धोबीघाट'—कि तपाक से बता सके। उसे भी पता था और लोगों को भी कि आधे मील में फैला था धोबीघाट और सैकड़ों घर थे वहां, उनमें से किसी न किसी में तो रहती ही होगी अमीना। दिन में कई-कई बार लोगों से और रात सोते में भी अपने से कहती रहती थी कि—'एक दिन तो जाना ही होगा हमें अपने घर।'

सात साल की थी, तभी ब्याह कर चली आई थी—अमीना अपने घर। जाते ही ढेरों-ढेर औरतें उढ़ा दी गई थीं उसे, जैसे वे उसके कीमती जोड़े हों, एकाएक वह दब-सी गई—उनके नीचे। कुछ दिन तो साँस रोके दुबकी रही, मौके की ताक में। एक दिन पड़ोस की जुबेदा गुट्टे उछालती हुई घुस आई थी उनके घर में—'भाभीजान गुट्टे खेलोगी?' चट-से उठ खड़ी हुई थी—अमीना और वे तमाम औरतें फिंका गई थीं पता नहीं कहां? कितनी दूर?

एक तरह से देखा जाए तो उसका बचपन भी उसी घर में बीता था। गुट्टे तो दिन में जब भी मौका मिलता, खेलने बैठ जाती, कभी अकेले ही और कभी जुबेदा के साथ। उसके तो पल्ले से ही बंधे रहते थे—गुट्टे। घर में जब भी वह अकेली होती, अपने बिस्तर के नीचे से रस्सी निकाल कर कूदती रहती—खुले चौक में। मगर सब के बीच 'कारा खूंपाजी' (चमड़े के काले खोल में रहने वाली स्त्री) की तरह वह अपने खोल में उतर जाती और किसी को कुछ भी पता नहीं चल पाता था।

दौड़ने पर तो कोई भी मौका छूटता ही नहीं था। घर में ही किसी दूसरे कमरे, चौके या आंगन में से कोई पुकारता तो वह दौड़ पड़ती। घर का दरवाजा खड़कता तो वह भागती हुई लपक लेती और घर में कोई न कोई तो टोक ही देता—'अरे-अरे, ये क्या? औरतें भी कहीं दौड़ती होंगी?'—उन दिनों तो उसके पैर थे कि दौड़ने को हरदम बस तैयार ही रहते थे। उसे बार-बार खुद को याद दिलाना पड़ता था कि मैं एक औरत हूं कि मुझे दौड़ना नहीं चाहिए।

एक दिन पल्ले से गुट्टे खोल कर हाथ में लिए देखती रही थी—वह देर तक, फिर हथेली में भींच लिया था और कुछ देर बाद हाथ बढ़ा कर उसने उन्हें सबसे ऊपर वाले अंधेरे ताके में रख दिया था—'जब जी करेगा उतार लूंगी, यहां ताके पर ही तो हैं।'—हो सकता है वे अब भी वहीं पड़े हों, उसी ताके में।

उन दिनों अकसर ऐसा होता था कि अचानक और अपने आप ही झनन-झनन बजने लगती थी—उसकी देह और फिर पिघलने लगती थी। वह खो जाती, कभी पता नहीं कहां और कभी अपने में ही। सामने की चीजें भी ऐसे दिखनी बंद हो जातीं, जैसे वे वहां हों ही नहीं। चीजों के पार, जाने कहां पहुंच जाती—वह। कोई आवाज देता तो उसे लगता वह अंधेरे अतल कुएं में है और आवाज दूर कहीं से आ रही है। कितना अच्छा है कि कोई भी दूसरा, इस कुएं में नहीं आ सकता। यह एक बिल्कुल ही अलग बात है कि कोई पहले से ही उसके भीतर जमा हो जाए और इस तरह उसके साथ इस कुएं में पहुंच जाए। रंगारंग अंधेरे में, सुगबुगाती, सोचती—वह अब एक चकित औरत थी।

कपड़े पछीटते और सुखाते हुए या तीज-त्यौहार पर या बिस्तर में करवटें बदलते हुए, उसे अचानक ही याद आ जाते वे दिन और अपना वह घर। कई बार वह अपने को उसी घर में कभी लेटे, बैठे, बातें करते या खाना बनाते देखती थी और उसे थोड़ी देर के लिए भूल जाता था कि अब वो वहां नहीं रहती।—'अम्मी, वो डाक्टरनी बाई ने पिरेस के कपड़े मंगाए हेंगे'—या—'अम्मी कसकर भूख लगी हेगी खाना जल्दी दो न।'—बशीर या शाहिद या सकिना की आवाज उसे लौटा लाती, इस डेरे में और फिर अमीना उदास हो जाती, न बच्चों में मन लगता, न काम में। पता नहीं कितनी दूर है—अभी घर? कब पहुंचूंगी मैं?

—'ओहो, अमीना, कितनी देर कर दी तुमने? अच्छा सुनो, ये लो चाबी और ये रहा ताला; कपड़े धोकर

घर अच्छे से बंद कर देना और चाबी पड़ोस में दे जाना। मैं अभी तक तुम्हारा इंतजार तो करती रही, गनीमत है कि तुम आ गई। देख क्या रही हो, लो पकड़ो ताला-चाबी!'—अमीना ने दोनों हाथ पीछे कर लिए—'नई साब, ये नई हो सकता, या तो आप कुछ देर और रुक जाओ या में आप जब कहो आ जाऊंगी कपड़े धोने।'

—'ये क्या है बाई? यह भी कोई बात हुई! मुझे जल्दी है, तुम इत्मीनान से काम करो।'—ऊपर से खुद उसे ही डांट खानी पड़ी थी। यह मालकिन भी अजीब है। भरा-पूरा घर डाल जाती है, मुझ पर! कल को कुछ हो गया तो नाम मेरा ही न आएगा! मगर किससे कहो, माने जब तो! अमीना अकसर अपने से ही बतियाती रहती थी।—'यह मालकिन आखिर मेरी क्या लगती है? मैं वही अमीना तो हूं जो लड़ाक थी, बुरी थी, चोर थी। घर में कुछ भी टूटता, फूटता, खो जाता, चोरी चला जाता, सब-का-सब उसी के खाते में तो डल जाता था। चाहे घर के मर्दों की जेबें उलटी हुई मिलें, चाहे पकाए हुई रोटी के टुकड़े बरतन से कम हो जाएं, जाहिर है किसी न किसी ने तो चुराए ही हैं और घर में चुरा आखिर कौन सकता है? यह भी कोई पूछने वाली बात है? रोज ही ऐसा कुछ-न-कुछ तो होता ही था और अपराधी पहले से ही तय थे इसलिए नित्यकर्म की तरह पिटते थे हम—यानी मैं और मेरे बच्चे। मेरे दिमाग में तो रात-दिन बस एक ही सवाल चक्कर काटता रहता था, क्या इसी तरह मार खाते-खाते एक दिन मर जाएंगे हम? जबकि अपनी सगी आंखों से कई बार देखा था हमने अपनी सौत को देवरों की जेबें टटकाते। मगर केते किससे? और सुनता कौन? लेकिन, खाने की नाई मार भी कब तक खाते और अगर न खाते तो जाते कहां?'

मां के घर से निकली तो शौहर के घर पहुंच गई थी अमीना। लोग लिवाने गए थे, लोग पहुंचाने आए थे। वह अकेली कभी घर से बाहर गई ही नहीं थी। उनके यहां औरतें घर में ही रह कर घर के काम करती थीं और मर्द बाहर के। आदमी लोग बाहर की दुनिया से लौटकर बतलाते—'अरे! तुम्हें क्या पता कि बाहर की दुनिया किस कदर बेरहम है और वो तुम्हारे तो कत्तई बस की नहीं। चुपचाप खाओ-पीओ और पड़े रहो। बाहर तो कोई किसी का होता ही नहीं।'

—'ऐसी दुनिया में कहां जाऊं?'—दुनिया से डरती-डरती पिटती रही थी अमीना, कई सालों तक। मगर एक दिन बिलबिला कर घर से बाहर, सड़क पर निकल आई थी अमीना—'जाने दो, आखिर कहां जाएगी? झक मारके आएगी वापस।'—सड़क पर निकल आने पर उसे बड़ी राहत महसूस हुई थी। कितना सारा आसमान था। चारों ओर खुली हवा थी, उसने जी भर सांस ली और भागने लगी घर से दूर दुनिया में।—'मरना ही है, तो मरूंगी पर उस कालकोठरी में तो मरना भी मुश्किल है।'—इस बात का पता भी उसे पहली ही बार चला था।

—'उन दिनों तो हम जिस किसी से न्याव मांगते फिरते थे। घर में रोज ही चोरी-चपाटी, रोज वही के वही झूठ और वही के वही इल्जाम और रोज की पिटाई तो पक्की। मैं मरी नहीं, घर से भाग आई। मैंने ठीक किया न?'—'नहीं, तुम्हें ऐसा हरगिज नहीं करना चाहिए था'—अड़ोसी-पड़ोसी से लगा कर बाप तक सभी ने एक स्वर से, एक ही बात कही। रोज-रोज कही। किसी न किसी घर में कपड़े धोती-सुखाती, खाती-पीती, उठती-बैठती अमीना सुनती रही, वही-वही बात—'कुछ भी हो आखिर तो वो तुम्हारा घर है और घर तो घर ही होता है।'—'औरत-मर्द किसके नहीं लड़ते—दो बर्तन साथ होंगे तो आपस में टकराएंगे।'—उसने सोचा, फिर-फिर सोचा, 'अपने पराए तमाम तरह के लोग केरिए हेंगे तो ठीक ही केते हेंगे'—और वह लौट गई थी एक दिन, अपने घर, सिर झुकाए। पति ने उसे फिर एक बार प्यार किया था, पहले की ही तरह, बरसों बाद ऐसा हुआ था और उसने सोचा था, ठीक ही किया जो लौट आई—वह। इंसान से गलती क्या नहीं होती? बीती को भूल जा अमीना, श्यात बात अब भी हाथ से न निकली हो और कुछ हो ही जाए? 'मगर हुआ कुछ नहीं, गरभ और रे गया।' दूसरे ही दिन से फिर वही का वही ढर्रा, वह और उसके बच्चे अपनी-अपनी जगह पहुंच गए वही लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट। फिर निकल आई थी—वह एक दिन घर से और पकड़ लिए थे फिर से अपने कुछ पुराने, कुछ नए काम।

—'ओह अमीना, कितनी ठंड है, आज और तुमको देखो, तुम्हारे तो सारे के सारे कपड़े ही गीले हैं।'—अमीना के कपड़े तो रोज इसी तरह गीले रहते थे, पर मालकिन ने जैसे पहली ही बार उसे गीले कपड़ों में देखा था। जबकि अगर वह किसी समय अमीना को याद करना चाहेगी तो वह उसे अक्सर गीले ही कपड़ों में याद आएगी, मौसम कोई-सा भी हो। कितने कम मौकों पर उसने अमीना

को सूखे कपड़ों में देखा होगा। गरमियों के दिनों में वे गीले होते तो थे ही, पर गीले बहुत देर तक रह ही नहीं पाते थे। मगर आज तो ठंड कड़ाके की है। धूप से हटने को भी मन नहीं करता उसका।—'बाप रे, तुम्हें गीले कपड़ों में देख-देख कर तो इतनी धूप में बैठी, मुझे भी ठंड लग रही है। पता नहीं तुम कपड़े कैसे धोती होगी'—उसकी तो सोच-सोचकर ही उंगलियां सुन्न हुई जा रही थीं। कपड़ों को झटक कर सुखाती हुई अमीना चुपचाप मुस्कराती रही। वह कई बार इस बात पर चकित होकर पूछ चुकी थी, यही सवाल—'तुम्हें ठंड नहीं लगती क्या अमीना?'—और अमीना भी उतने ही धीरज से थमा देती हर बार वही जवाब—'अब तो साब आदत पड़ गई हेगी, मगर जिस समय धोना शुरू किया था, रोना आता था। हाथ में चाहे छाले हों, चाहे घाव—कपड़े तो धोने ही थे। मगर ये है कि इंसान जैसी आदत डालना चाहे, डल जाती है। अब तो काम की ऐसी आदत पड़ गई है कि बाजी बखत कभी किसी के चले जाओ या घूमने-फिरने निकल जाओ तो काम के बिना अजीब फिजूल-सा लगता है। पूरा का पूरा दिन कैसे बिताओ? यहां रहो, तो दिन भर अपना काम करो—खाओ-पकाओ, सोओ, तो बखत कहां जाता हेगा, पताई नहीं चलता।'

जैसे-जैसे जचकी करीब आती गई बाप, भाई, फूफी, अड़ोस-पड़ोस वाले सब मिल कर फिर उसे धकेलते-धकेलते ले गए थे, उसके घर तक—'कहना मानो अमीना, बच्चा तो अपने घर में ही होना चाहिए।'—'सारा का सारा जमाना केरिया हेगा घर लौट जा अमीना, घर लौट जा, लौट जा, जा....। क्या सारा जमाना गलत और एक तू ही सई हेगी? श्यात गलती मेरी ही हो'—बुदबुदाती हुई फिर एक बार पहुंच गई थी—अमीना अपने घर।

—'बच्चा तो चला गया, (अच्छा ही हुआ) मगर हमने तो आपरेसन करा लिया कि कम से कम ये एक पाप तो कटे।'

—'आराम करना दो-चार महीने, वरना खतरा हो सकता है'—'डाक्टर ने तो बेचारी ने भलमनसाहत से केकर विदा कर दिया। पर, घर लौटते ही थमा दी गई बड़ी-बड़ी बाल्टियां कि लो भरो पानी। हमने भी खूब भरीं कि चलो कैसे ही सई छुटकारा तो मिले। मगर मौत तो फिर भी नहीं आई। सई बता रिए हेंगे हम आपको अल्ला गवाह हे, तीन-तीन दिन तक अनाज का एक दाना भी मुंह में नहीं जाता था, मगर कोई ये केने वाला नहीं था कि खा तो ले अमीना।'—बुरा मान कर बैठते तो बैठे रहते उम्र भर। क्या ऐसा ही होता है—घर? एक दिन भरी दोपहर उसने घूम-घूम कर देखा था—घर को, कभी भीतर से कभी बाहर से। दीवारें ही दीवारें थीं चारों ओर। सब ओर से एक साथ उसे घेरती हुई बढ़ी आ रही थीं। दो बेटे स्कूल गए थे, छोटा वाला सो रहा था और बेटी कुछ खाने में मशगूल। इससे पहले कि बढ़ती हुई दीवारें उसे दबोच लेतीं, दौड़ कर निकल आई थी—वह घर से। सड़क से चली जा रही थी—अकेली।

—'कहां जाओगी अमीना?'

—'कहीं भी।'

—'फिर भी? तुम्हारे बाप का विचार तो इस मामले में पेले सेइ तै हेगा। चाहे मारे, चाहे पीटे, लड़की को रेना तो अपने आदमी केई चाहिए। आखिर तो वो मालिक हेगा। तुम्हारे लिए जितना भी रंज हो अपने असूल का पक्का बाप तो तुम्हें रखने से रिया!'

—'बाप के जाइ कोन रिया हेगा?'

—'तब फिर जा कहां रइ हो?'

—'जहां ये पेर ले जाएं।'

—'पेर वहीं न ले जाएंगे, जहां तुम कहोगी?'

—'अरे हम तो केते हेंगे मगर ले तो जाएं।'

पटरियों और उसके बीच आधा शहर बिछा था। जाने कितनी गलियां, जाने कितने रास्ते और कौन-सा रास्ता कहां से, कब मुड़ कर कहां ले जाएगा, कहना मुश्किल था।—'वो कुछ भी हो अमीना, मगर आपको लौटना हरगिज नहीं है।'—'कहां को अमीना?'—उस दिन फूफा ने बढ़ कर रास्ता न छेका होता और—'कहीं नहीं'.....'भर्राकर हमाई आवाज न टूटी होती तो पता नहीं कां होते।'

—'मगर ये है कि बात सब जगह वही थी। चाहे फूफी के रहो, चाहे बहन के, चाहे भाई के। हर जगह वही-वही शक, वही-वही काम और वही-वही इल्जाम। लेकिन, करते क्या? छोटे-छोटे बच्चे और जवान मट्टी लेकर कहां को जाते? कहो! खुद ना भी डरें, मगर दुनिया तो डराती अई थी। हम भी के देते थे, सबसे कि कौन उमर गुजारनी हे यां। हमारा अपना घर रहेगा, लौट जाएंगे एक दिन। कहीं

लोग ये न समझ लें कि हमारा कोई धनी-धोरी नई हेगा। बस ये ई हे के समय-समय की बात हेगी।'

जहां जाती उसे एक मर्द तलाशना पड़ता।—'औरत जात अकेली केसे रे सकती हेगी?'—पहले बाप था, फिर पति, फिर फूफा, फिर जीजा और अब तो बशीर भी सत्तरह का हो चला था। उसने हिम्मत करके एक दिन कह दिया था, अपनी अम्मी से कि—'हम अकेले इ रे लेंगे अब तो। वो दिन और आज का दिन मालिक का शुकर हे, आदमी की तनखा तो हमीं कमा लेते हेंगे, अब हमें आदमी की क्या धौंस? सौ-डेढ़ सौ तो मां-बेटे मिलके बचा भी लेते हेंगे। करने वाले तो अब भी न्याव करते हेंगे कि—'जाओ, रहो तुम्हारा अपना घर है।'—मगर हमने भी के दिया कि अब क्या, अब तो बखत गया और एक बार गया तो फिर गया।'

लेकिन, जब भी उसके मन में विचार आता कि अम्मां वाले मकान के इस कमरे की मरम्मत करवा ले या बाहर के दालान को एक ओर से घेर कर एक और कमरा निकाल लें, तो पिरेस के काम की सहूलियत हो जाएगी, या कभी यह कि घर में बस किसी कदर काम चलाने लायक चीजें ही हैं, सामान इधर-उधर बिखरा रहता है। एकाध बक्शा, एकाध इलमारीनुमा चीज खरीद ली जाए या वह कर्ज लेकर एक बार अपनी भट्टी लगा ले, तो काफी काम बढ़ाया जा सकता है, लड़का भी कुछ ही दिनों में बराबरी में आ लगेगा। इसके बाद वह एकदम खामोश हो जाती! क्या करना है? काम तो चल ही रिया हेगा 'और एक दिन तो'...इससे आगे वह अपने से भी अब कुछ नहीं कह पाती थी।

—'किसका घर और किसका बार अमीना? किस धोखे में पड़ी हो? इतने सालों से जिस घर में रह रही हो वो तुम्हारा घर क्यों नहीं?'—उसने घर में पैर रखते हुए अपने को लताड़ा।

पूरे दस बरस बाद गई थी वह घर, ननद की शादी में। एक मुश्त पंद्रह दिन तक रही वह। चौके का सारा काम सम्हाले थी। मगर, अपनी तो कौन कहे, अपने बच्चों तक को खुद खाना निकाल कर देने से डरती थी! कैसे दे? कहीं किसी ने टोक दिया या कुछ कह ही दिया तो! पर, वहां तो इतने दिनों में किसी ने भी कभी नहीं पूछा कि उसने या उसके बच्चों ने खाया कि नहीं? और एक तू है, तेरे को तो बस एक ही रट लगी है—'घर, अपना घर!'—वह जाकर चारपाई पर बैठ गई और थके पैरों को अपने सामने फैला लिया। धीरे-धीरे अपने ही हाथों से उन्हें सहलाने-दबाने लगी। घर की दीवारों को, छत को, चीजों को वह गौर से देखने लगी, उन पर धूल की तहें जमा हो गई थीं। उनका मूल रंग तो जैसे पहचान में ही नहीं आ रहा था। वह चट-से उठ खड़ी हुई और कपड़ा उठा कर चीजों को झाड़ने-पोंछने लगी। एक चीज को उठाती, उसे हाथ में लेकर देखती—'बताओ अब ये लालटेन यहां लुढ़की पड़ी है, बरसात में कितनी परेशानी पड़ती हेगी और ये पिलग-वायर यां रखा हेगा। बशीर अभी महीने भर पेले ही नया खरीद के लाया।'—वह चीजों को पहचान कर, उन्हें हाथ में उठाए-उठाए उनके लिए सही जगह तलाशने लगी। घर में हर चीज की अपनी कोई न कोई जगह तो होनी ही चाहिए न! ये भी क्या कि कोई भी चीज कहीं भी पड़ी है। चाहे फालतू की हो, चाहे काम की और किसी को भी उनके घर में होने का पता ही न हो। ये क्या हेगा इस कनस्तर में? इतना भारी? ओह! कलई दो साल पेले लाई थी कि घर को पोत लेगी। फिर मन नहीं किया था उसका और उठा के कनस्तर में पटक कर भूल ही गई थी उसके बारे में। उसने तुरंत ही उसे गला दिया। घर दालान को बुहार कर साफ किया और गोबर-मिट्टी सान कर पहले तो दीवार की दरारों को उसने हिफाजत से भरा। फिर पुताई शुरू कर दी, उसका अनुमान था कि शाम ढलने तक तो वह इस काम को पूरा कर ही लेगी।

बशीर जब अपने भाई-बहन के साथ लौटा तो सोच में पड़ गया। उसने इधर-उधर नजर घुमा कर देखा कि वह जहां खड़ा है, उसी का मोहल्ला है, या कोई दूसरा? उसके घर के पिछवाड़े, बाएं कोने पर पीपल का पेड़ था, बाजू में सज्जाद मामू का घर और सामने कुछ ही दूरी पर नफीसा बी की भट्टी, बड़ी भारती भट्टी। सभी चीजें अपनी-अपनी जगह पर सही-सट्ट थीं, यानी वह सफेद चमकता घर उसी का था और बैठ कर भीतर कमरे को लीप रही औरत, उसकी अम्मी! फिर भी दरवाजे से घुसते हुए उसने आवाज दी—'अम्मी ओ अम्मी'—····अमीना ने लीपते-लीपते पलट कर देखा—'आ गए? आज तो सारे घरों के काम अकेले ही करने पड़ गए तुझे।'—'मगर तुमने तो घर की कायापलट कर डाली। थक गई होगी! चलो तुम लीपना पूरा करो, तब तक मैं चाय बनाता हूं।'

लीप कर बाहर निकली और मिट्टी का तसला पीछे रख कर हाथ-पैर-मुंह धोकर जब घर के सामने खड़ी हुई तो देखती ही रह गई वह 'अपने घर' को, जैसे वह किसी दूसरे का हो!

❖

मुकेश व्यास की कविताएं

•

समय के आवेग में
बहा जाता है सभी कुछ
कभी तेज गति से
कभी मंथर गति से
लहरों में नौका के मानिंद
संघर्ष करते, हम तुम नित्य प्रति
न जाने कौन-सा झोंका
किसे?
कब?
कहां ले जाए
धारा, समय की
तुम कितनी निष्ठुर हो
लील लेती हो अनायास सभी कुछ
चाहा अनचाहा
सूरज तो उगा
चमका
पूरे वेग से
अस्त भी हुआ
तो, अपनी ही परंपरा से
फिर, क्यों कोई खींचता रहता रेखाएं
उजियारे और उजियारे में।

•

रक्तबीज की तरह
उगते जाते शब्द
मेरे
अंदर बाहर, आगे-पीछे
बंद मुंह, खुले कान, मूंदे आंखें
मैं
बचाए रखना चाहता हूं
'अपना होना'
पर
ढीढ शब्द ये
नहीं छोड़ते
मेरी चेतना का कोई कोना
मैं
बंद कमल के भौंरे की तरह
करता रहता हूं इंतजार
सुबह होने का।

•

संकटी मान्यताओं
भुरभुराती आस्थाओं
और
लिजलिजे आदर्शों की पोटली बन कर रह गया है
अब वह।
खोलने के लिए
गांठों की आवश्यकता नहीं, अब
खुद ही फट पड़ती है पोटली, यदा-कदा
रिसने लगा है उसमें से जो कुछ
करते हो तुम अपने को तैयार
एक सार्थक टिप्पणी के लिए।

•

हम
अपने ही
घेरों में घिरे
मारने शत्रु को
ढूंढ़ने, हवा में जा रहे हैं।
पाताल की गहराई से
निकाल बाहर करने का दावा किए
पहचान अपने को भी नहीं पा रहे हैं
लगने लगे, भोथरे, औजार सारे
खुद
न जाने क्यों
औजार बनते जा रहे हैं।
समझाते रहे, प्रतिपल दूसरों को
न जाने क्यों
खुद समझने से बचते जा रहे हैं।
था कल जो, नहीं है आज
रहेगा कल भी, नहीं पता
अल बत्ता
कभी ठोस, कभी बालू, कभी पानी पर
लकीरें रोज खींचते जा रहे हैं।

❖❖

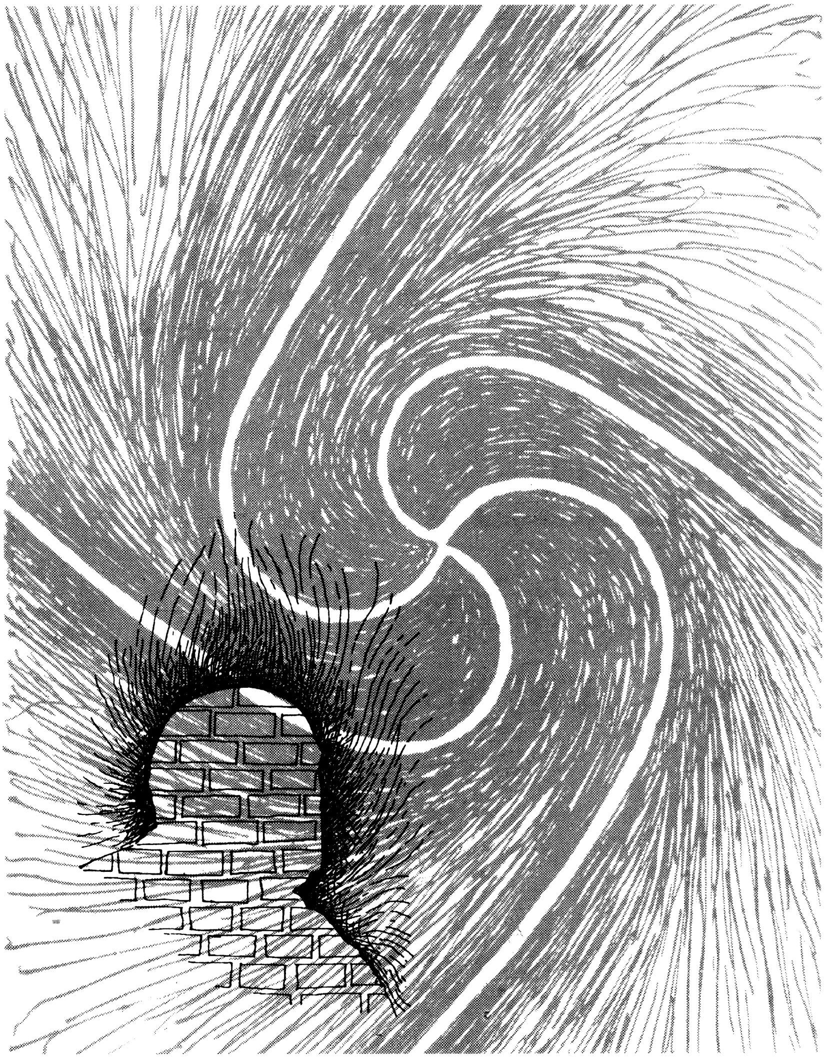

शीलन

यह कभी न कहो कि मैं हीन या पापी हूं, आपकी सहायता कौन करेगा? आप संसार के सहायक हैं। विश्व में आपकी सहायता करने को मनुष्य, देवता और दैत्य कहां बैठे हैं? आप पर प्रभाव किसका पड़ सकता है? आप विश्व के देवता हैं, आप कहां सहायता मांग रहे हैं? कहीं और से कभी सहायता नहीं मिली है। जब मिली तब आपसे ही मिली। अज्ञात की दशा में आपने प्रार्थना की और वह सुनी गई। आपने समझा कि किसी और ने सुना, पर आपने आप ही अपनी प्रार्थना को अज्ञात रूप में सुना, सहायता आप ही के भीतर से मिली और आपने अज्ञानवश समझ लिया कि किसी और ने सहायता की। आपके बाहर कहीं सहायता नहीं, आप विश्व के स्रष्टा हैं। रेशम के कीड़े की भांति आपने अपने को आवृत कर रखा है। आपको बचा कौन सकता है? अपना आवरण काट डालिए और जैसे कुसियारी का कीड़ा कुसियारी को काट कर तितली बन कर बाहर निकल आता है, बाहर आ जाइए, मुक्त हो जाइए। तभी आपको सत्य दिखाई पड़ेगा।

—स्वामी विवेकानंद

चाहे धर्म का क्षेत्र हो, राजनीति हो और चाहे सामाजिक स्तर की राष्ट्रीय अथवा अंतरराष्ट्रीय जटिलताएं हों—आचार्यश्री तुलसी ने भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन की चिंतनधारा को अपना मूल आधार बनाया और उसी के आधार पर सूझ-बूझ और दूरदर्शिता के साथ अपना मत व समाधान प्रस्तुत किया। अनुकूल या प्रतिकूल—दोनों ही स्थितियों में साम्ययोग का प्रयोग चलता रहा। इसीलिए आप अपनी कार्यशक्ति पर कभी हताश नहीं हुए, बल्कि अधिक उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते रहे। आपके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व में इतिहास की एक लंबी परंपरा और एक संपूर्ण संस्कृति का गुंफन प्रतीत होता रहा।

पावन जन्मोत्सव
(20 अक्टूबर)
विशेष

आचार्यश्री तुलसी : सत्यम् शिवम् सुंदरम् का विलक्षण संगम

❑ साध्वी जयमाला

उनका उद्घोष था, **जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद**—ऐसे सद्भाव भरे स्वभाव के कारण वे विरोध के झंझावातों से कभी घबराए नहीं, बल्कि और अधिक पौरुष के साथ अपने अभियान को आगे बढ़ाया। वे कौन थे? वे थे—आचार्यश्री तुलसी। जिनका व्यक्तित्व अद्भुत तेज, अनुपम आभा और विराट लय से गुंफित था। बड़े-बड़े आकर्षक नेत्र, उन्नत ललाट, मझला कद और श्वेत-धवल परिधान में स्वस्थ और पवित्र मूर्ति के रूप में जन-मानस के पटल पर आज भी उनका व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व अंकित है। ऊर्जा-संपन्न महापुरुषों की गणना में आप उच्च कोटि के महापुरुष थे। प्रवहमान-निर्झर के रूप में आज भी आपका व्यक्तित्व व कृतित्व सबके सामने है। आपका लक्ष्य सदैव विकासोन्मुख रहा और बड़े से बड़े संघर्षों के तूफान भी आपको रोक नहीं सके।

आपके अदम्य उत्साह से परिपाश्व वातावरण में भी आलोक की अभिनव रश्मियां छाई हुई दिखाई देती थीं। इसीलिए निराशा के कुहरे में दिग्मूढ़ बना कोई भी जन आपके निकट आकर सहज रूप से नया जीवन और नई ऊर्जा पाता था। आपका जीवन बहु-आयामी था। एक साथ अनेक प्रकार के काम आपकी सहज कार्यप्रणाली थी, जो बताती है कि आपके मस्तिष्क के सभी ज्ञान-प्रकोष्ठ सहज सक्रिय रहते थे। गंभीर विषयों पर निर्णय लेने में जहां सहज सजगता परिलक्षित होती, वहीं नवागंतुकों से मिलने-जुलने और बातचीत में भी स्वाभाविकता ही दृष्टिगत होती। एक तरफ गहन-गंभीर चिंतन, तो दूसरी ओर सामान्य जनों, ग्रामीणों और दीन-हीनों के साथ उनको संबल प्रदान करने वाली सीख-समझाइश जैसी बातें—उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का अंग थीं। अपने श्रमण-समाज के शिक्षण-प्रशिक्षण से लेकर आगम संपादन जैसे गुरु-गंभीर काम उनकी स्वाभाविक क्रिया थी। दिन-भर में क्या-क्या कार्य निपटाने होते थे, पर वे कभी थकते-अघाते नहीं थे। न कोई तनाव, न उतावलापन और

न झुंझलाहट—आचार्यश्री तुलसी ऐसी अद्वितीय कार्यशैली और क्षमता के धनी थे।

आप अभिनव प्रयोगों के आविष्कर्ता थे। तेरापंथ संघ के सर्वतोमुखी विकास के लिए अपने उर्वर मस्तिष्क से अनेक समयानुकूल कार्यक्रम दिए और प्रगति के नए द्वार उद्घाटित किए। संस्कृत में एक सूक्त है—**प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः**—इस उक्ति के अनुसार साधना, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में विविध प्रयोग बहुत प्रेरणादाई बने।

साधना के क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान आधुनिक युग में एक रामबाण तथा संजीवनी बूटी की तरह कामयाब बना है। आज हर वर्ग का व्यक्ति तनाव और अवसाद से पीड़ित है। उसके लिए प्रेक्षाध्यान पद्धति बहुत ही कारगर सिद्ध हुई है। स्वाध्याय व ध्यान के प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। **सत्यं शिवं सुंदरं**—का संगम एक विलक्षण प्रयोग के रूप में सामने आया।

साधना की पवित्र गंगा आपके जीवन में निरंतर प्रवर्द्धमान रही है। संयम की साधना में अनवरत गति के लिए विविध प्रयोग—खाद्य संयम, इंद्रिय विजय, साधना, कषाय उपशांत ध्यान, स्वाध्याय, मौन, कायोत्सर्ग आदि निरंतर चलते रहे। समस्याओं का समाधान आपने समता के माध्यम से पाया और सदैव स्वस्थ जीवन जीने का प्रयास किया।

चाहे धर्म का क्षेत्र हो, राजनीति हो और चाहे सामाजिक स्तर की राष्ट्रीय अथवा अंतरराष्ट्रीय जटिलताएं हों—आचार्यश्री तुलसी ने भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन की चिंतनधारा को अपना मूल आधार बनाया और उसी के आधार पर सूझ-बूझ और दूरदर्शिता के साथ अपना मत व समाधान प्रस्तुत किया। अनुकूल या प्रतिकूल—दोनों ही स्थितियों में साम्ययोग का प्रयोग चलता रहा। इसीलिए आप अपनी कार्यशक्ति पर कभी हताश नहीं हुए, बल्कि अधिक उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते रहे। आपके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व में इतिहास की एक लंबी परंपरा और एक संपूर्ण संस्कृति का गुंफन प्रतीत होता रहा।

बिना थके, बिना रुकें अहर्निश काम करने की सतत चेष्टा—अलौकिक ऊर्जा का परिचायक है। आप ऐसी ही ऊर्जा और पौरुष के जीवंत प्रतीक बने रहे। तभी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आपके लिए एक गीत में लिखा है—

श्रम पल-पल अविकल चलता, अनुभव का सुरतरु फलता। पौरुष का मूल्य बढ़ाया रे। महाप्राण गुरुदेव।

वस्तुतः आपका जीवन पुरुषार्थी था और नेतृत्व की अनुपम क्षमता थी। साथ ही अप्रतिम अनुशासन-कौशल भी था। एक धर्माचार्य में जो विशेषताएं होनी चाहिए, वे भी आप में सहज विद्यमान थीं। उनकी एक झलक द्रष्टव्य है—

(1) उदात्त चरित्र (2) रागद्वेष मुक्त तीसरी दृष्टि का विकास (3) निर्णायक क्षमता, दूरदर्शिता और साहस (4) समूह को साथ में लेकर चलने की क्षमता (5) अपने समुदाय को यथा-रुचि और योग्यतानुसार कार्य में नियोजित करने की कला (6) मृदुता और कठोरता से समन्वित अनुशासन करने की क्षमता (7) प्रतिकूल वातावरण में भी स्वयं को संतुलित बनाए रहने की क्षमता (8) महत्त्वपूर्ण योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन की गहरी क्षमता (9) अपने सिद्धांतों में दृढ़ता, किंतु विचारों में लचीलापन।

उपरोक्त क्षमताओं को विस्तार देने वाली कुछ और विशेषताएं भी हो सकती हैं, जो आपके जीवन में पूर्णतः परिलक्षित थीं। इसीलिए आपका नेतृत्व विषम परिस्थितियों में भी शतशः सफल रहा।

आचार्यश्री तुलसी का मस्तिष्क बहुत ज्यादा उर्वर था। प्रतिपल नई कल्पनाएं, नई योजनाएं और नया चिंतन समुद्र में लहरों की तरह निरंतर हिलोरें लेता रहता और उनको साकार रूप देकर ही आप विश्राम करते थे। इन सभी कार्य-कलापों में—आपके अनन्य सहयोगी रहे हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। इसीलिए आप कहा करते थे कि महाप्रज्ञ से तुलसी कभी अलग नहीं है। तुलसी में महाप्रज्ञ है और महाप्रज्ञ में तुलसी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सदैव आचार्यश्री तुलसी के सलाहकार तथा भाष्यकार रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी के प्रखर व्यक्तित्व के वलय में अनेक मुनियों ने भी ज्ञानार्जन के क्षेत्र में अभिनव विकास किया है। संस्कृत, प्राकृत, हिंदी तथा अंग्रेजी भाषा पर अधिकारपूर्वक पकड़ हासिल की है। 'तुलसी युग' में संस्कृत भाषा के अनेक आशुकवि बने। तत्काल प्रदत्त विषयों पर कठिन से कठिन छंदों में पद-रचना न केवल सामान्य जन के लिए, अपितु विद्वद्वर्ग को भी आश्चर्य-चकित कर देता है।

तेरापंथ रूढ़िवादी धर्मसंघ नहीं है। आचार्यश्री भिक्षु ने ही उत्तरवर्ती आचार्यों के हाथों में परिवर्तन की छूट सौंप दी

थी। अपनी मूल मर्यादा को अक्षुण्ण रख कर प्रबुद्ध, चिंतनशील और अनुभवशील संत-सतियों की संगोष्ठी में गहराई से चिंतन-मनन पूर्वक परिवर्तन किया जाता रहा है। आचार्यश्री भिक्षु की इस सुंदर व दूरदर्शिता पूर्ण व्यवस्था को श्रीमज्जयाचार्य ने और अधिक निखारा। इसी कड़ी में आचार्यश्री कालूगणि का युग विकास का युग कहा जा सकता है, जो आपके युग तक आते-आते अविराम विस्तार पाने लगा तथा आज साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका सहित हर क्षेत्र में हो रहा विकास शिखर छूने लगा है।

आचार्यश्री कालूगणि की पारखी दृष्टि ने ऐसे तेजस्वी और प्रखर प्रतिभा-संपन्न नक्षत्र को तराशा और तेरापंथ संघ की बागडोर ऐसे सक्षम हाथों में सम्हलाई। तेरापंथ की आचार्य परंपरा सदा ही यशस्वी रही है। इसी यशस्वी परंपरा में अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवनविज्ञान, नया मोड़, समणदीक्षा और उपासक श्रेणी आदि जुड़े। रूढ़िगत अवस्था से निकाल कर समाज को नव-निर्माण की दिशा में अग्रसर करने में इन प्रकल्पों से बड़ा सहारा मिला।

आचार्यश्री तुलसी के प्रखर और बेबाक विचारों से धर्म के आधुनिक अर्थ और नूतन विश्लेषण सामने आए तथा बड़े-बड़े नास्तिकों पर भी इनका प्रभाव पड़ा। स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेंद्र प्रसाद और प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू, प्रखर समाजवादी चिंतक और ऊर्जावान राजनीतिज्ञ डाक्टर राम मनोहर लोहिया तथा डॉ. विधानचंद्र राय जैसे लोकप्रिय जननेताओं पर भी आपके चिंतन और कार्यविधि का अमिट प्रभाव पड़ा तथा आपके अनेक विचारों से वे सहमति रखने लगे। धर्म के रहस्य को आध्यात्मिक-वैज्ञानिक तरीके से उजागर कर हजारों-लाखों लोगों को आपने प्रभावित किया।

देश के नैतिक पुनरुत्थान में अपने सुव्यवस्थित साधु-समाज को संलग्न कर आपने अन्य धर्माचार्यों के सम्मुख बहुत बड़ा उदाहरण प्रस्तुत किया। इसी तेरापंथ संघ की बागडोर आज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सबल-सक्षम हाथों में है और यह संघ चरैवेति-चरैवेति गतिमान है।

❖

धर्म : दीर्घकालिक राजनीति है

पृष्ठ 24 का शेष

डा. लोहिया अपने को गांधी का अनुयायी नैतिकता और आध्यात्मिकता को जोड़ने तक ही मानते थे। असल में यही चीज हमारे इन दो महापुरुषों के पूरे कामकाज और समझ का केंद्रीय तत्त्व है। लोहिया आध्यात्मिकता और नैतिकता के बीच, श्रेय और प्रेय के बीच निरंतर पुल बनाने के प्रयास में लगे रहे। वे मानते थे कि आध्यात्मिकता शाश्वत है, लेकिन हर युवा को, हर समाज को, हर व्यक्ति को अपनी नैतिकता स्वयं ही खोजनी पड़ती है। वे भारतीय समाज को (खासकर जाति व्यवस्था के चलते) बार-बार इसलिए जड़ कहते थे कि हजारों वर्षों में इसने अपने लिए नैतिकता नहीं ढूंढ़ी है। उनके लिए नैतिकता का अर्थ मनुष्य और मनुष्य के बीच संबंधों का नियमन है। वे जाति-व्यवस्था को भी ऐसे नियमन का प्रतिफल मानते थे, जिसने बदलाव का बुनियादी काम बंद कर दिया था। इसी के चलते जाति-व्यवस्था आध्यात्मिकता विरोधी बन गई। महावीर और बुद्ध से लेकर शंकर तक जिस मनीषी ने भी इस चीज को समझा, उसे जाति-व्यवस्था से मुश्किलें आईं। इसमें बुद्ध एक स्तर पर जाति से हारे, लेकिन शंकर ने द्वंद्व को स्थायी बनाकर परिहार किया, अद्वैत की प्रतिष्ठा उसी का फल थी। लोहिया ऐसी नैतिकता की खोज, जो आध्यात्मिकता के अनुरूप हो—अपने लिए इसी काम को आगे बढ़ाना मुख्य मानते थे।

डा. राम मनोहर लोहिया की मान्यता थी कि नैतिक मूल्यों और नियमों के अभाव में भारतीय आध्यात्मिकता स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ रही है। इसीलिए भारतीय चरित्र स्वेच्छा से मरना भी भूल गया है, वह मजबूरी की मौत को बिना विरोध स्वीकार करना सीख गया है—जो असल में हीनता है। एक ओर जीव दया के नाम पर काफी नाटक होते हैं, तो धोखा देना भी कुछ लोग सीख गए हैं। भारत के लोग जब तक अन्याय और ताकतवर से संघर्ष तथा स्वेच्छा से मरना नहीं सीखेंगे, कुछ नहीं हो सकता। इसीलिए डाक्टर लोहिया ने किसी अन्य चीज की तुलना में स्वेच्छा से मरना और अन्याय से लड़ना सीखा।

❖

में तोड़-तोड़ कर शहतूत खाता रहा और रटता रहा, संप्रतिवान—हवाले कर दिया। इस तरह दिन ढल गया, शाम हो गई और रात को जब मैं सोने के लिए लेटा तो दिमाग में हथौड़े की तरह यही गूंज रहा था—संप्रतिवान—हवाले कर दिया। संप्रतिवान का अर्थ मुझे कुछ इस तरह याद हुआ कि आज भी नहीं भूला। उस दिन रटते-रटते कुछ इतने शहतूत खा गया कि कई दिन तक पेट खराब रहा। घर में किसी को मालूम नहीं पड़ा कि यकायक मेरा पेट क्यों खराब हो गया। मेरी मां ने मुझे गोद में ले लिया और कहने लगी—'बेटा इतनी पढ़ाई भी किस काम की?'—आज मुझे मां के भोलेपन पर ममता आती है और अपनी बेवकूफी पर हंसी। रटने पर इतना जोर देने के बजाय अगर समझ-बूझ कर पढ़ता तो एक शब्द के लिए न तो इतनी माथा-पच्ची करनी पड़ती और न ही पेट खराब होता।

बालकथा

तालीम का मतलब क्या है

❑ रवीन्द्र कालिया

दो साल बाद मुझे पहले वाले स्कूल से छुट्टी मिल गई। उसके बाद मुझे उसी स्कूल की दसूरी शाखा में डाला गया। वह स्कूल घर से जरा दूर था। किला मुहल्ला। कई बाजारों से होकर वहां जाना पड़ता था। वह बड़ा प्रायमरी स्कूल था। आधी छुट्टी के समय घंटी बजते ही दरवाजे बंद हो जाते। दरअसल दरवाजे पहले बंद करवा दिए जाते, घंटी बाद में बजती। दो मंजिला इमारत थी। सैकड़ों छात्र। बीसियों अध्यापक। हर अध्यापक के हाथ में छड़ी और सिर पर टोपी। आधी छुट्टी के समय जब फाटक बंद हो जाता तो लगता कि पूरा स्कूल मुर्गियों का दड़बा बन गया है। सींखचों के बीच से हम लोग सामान खरीदते। चाट, लैमनचूस, चने-कुरमरे, बूढ़ी माई के बाल। कभी-कभी कोई अध्यापक फाटक खुलवा कर बाहर जाते तो हम लोग भी भीड़ के रेले में बाहर निकल जाते। हमारे आकर्षण के दो केंद्र थे। एक ढिक्की (ढलान) वाली गली और दूसरा मशहूर गायक सहगल का मकान। ढिक्की वाली गली में इतनी ढलान थी कि हम लोग फिसलते हुए नीचे तक चले जाते। बाद में मैंने ऐसी गली किसी भी शहर में नहीं देखी। प्रसिद्ध गायक सहगल का मकान भी स्कूल के पास ही था। हम लोग भागे हुए जाते और उनके मकान के सामने गाते।

सहगल ज्यादातर बंबई, कलकत्ता में ही रहते थे, कभी-कभार ही जालंधर आते थे। उन दिनों बड़ा मजा आता। बच्चों को नकल उतारते देख, उन्हें बहुत सुख मिलता। चूंकि हम लोगों की आधी छुट्टी बहुत कम समय के लिए होती और उसमें भी आधी फाटक खुलने के इंतजार में बीत जाती, हम लोग हांफते हुए वापिस स्कूल पहुंचते।

मगर एक दिन बहुत बुरी खबर आई। स्कूल में छुट्टी हो गई। पूरा शहर बंद हो गया। बाजारों में कर्फ्यू-सा लग गया। एकदम सुनसान। सारा शहर सहगलां

मुहल्ले पर जमा था। सहगल की मृत्यु हो गई थी। सहगल के यों अचानक चले जाने से जैसे सारा शहर यतीम हो गया था। बाद में जब सहगल की अर्थी उठी तो सारा शहर 'राम नाम सत्त' है से ज्यादा—

जब दिल ही टूट गया, तो जीकर क्या करेंगे

—गाते हुए पीछे-पीछे चल रहा था।

चौथी कक्षा के बाद—हाई स्कूल। शायद पंजाब का सबसे बड़ा—स्कूल। उसमें पचास नल थे, बच्चों के पानी पीने के लिए और लगभग इतने ही—पाखाने। आधी छुट्टी के समय आप न तो पानी पी सकते थे और हाजत होने पर न पाखाना कर सकते थे। इन दोनों कामों के लिए ताकत और फुर्ती की जरूरत थी। जबकि पी.टी. मास्टर की ड्यूटी लगी रहती थी कि बच्चों को दिक्कत न हो। वे एक कतार बनवाते, दूसरी बिखर जाती। कुछ शरारती बच्चे फाटक बंद पाकर दीवारें फांद जाते। पी.टी. साहब को इसका भी खयाल रखना पड़ता। अगर कहीं हेडमास्टर साहब दिखाई दे जाते तो बच्चों में दहशत फैल जाती। चमनलाल उनका नाम था। सुबह-सुबह प्रार्थना के बाद कुछ बच्चों की बेंत से सार्वजनिक रूप से पिटाई करते थे—आधी छुट्टी के समय ही भाग जाने वाले बच्चों की, अध्यापक से जुबान लड़ाने वाले बच्चों की, नकल करते हुए पकड़े जाने वाले बच्चों की। उनकी बेंत हवा में सरसराती और बच्चा अपना हाथ आगे बढ़ाए खड़ा रहता। बच्चों की आंखों से टप-टप आंसू गिरते। हम लोग मन-ही-मन मनाते, अब कोई भी ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे इतनी तकलीफ और इतना अपमान उठाना पड़े।

मेरे पिता चूंकि स्कूल में पढ़ाते थे, इसलिए उनकी हार्दिक इच्छा यही थी कि हम दोनों भाई पढ़-लिख कर किसी 'कालिज' में प्रोफेसर हो जाएं। यानी कि उनसे कुछ तरक्की कर जाएं। तरक्की करते-करते मेरे भाई के बहुत छोटी उम्र में ही चश्मा लग गया। दरअसल उसकी दिलचस्पी न 'साइंस' में थी, न संस्कृत में। उन दिनों 'फर्स्ट' आने वाले लड़के संस्कृत और 'साइंस' लेकर ही हाई स्कूल करते थे। इन दोनों विषयों में गणित की तरह नंबर मिलते थे। लिहाजा विषयों में रुचि न होते हुए भी, मेरे भाई को यही विषय लेने पड़े।

मेरा भाई 'फर्स्ट' तो नहीं आया, किसी तरह चश्मा-चढ़ी आंखों से 'फर्स्ट डिवीजन' में पास अवश्य हो गया। मेरे पिता को उससे अधिक आशाएं थीं। उन्होंने जब 'मेरिट लिस्ट' में उसका नाम नहीं पाया तो उन्हें बहुत कष्ट हुआ। मैंने मन ही मन अपने पिता के कष्ट को समझा और तय कर लिया कि अब मैं ही 'फर्स्ट' आकर पिता की साध पूरी करूंगा। वास्तव में मेरे पिता की हम दोनों से बहुत आशाएं थीं। वे हमें हर जगह सबसे आगे देखना चाहते थे। यहां तक कि अगर स्कूल में कोई नाटक भी होता तो मेरे पिता चाहते कि हम उसमें भी भाग लें। मुझे वह दिन भुलाए नहीं भूलता, जब स्कूल के वार्षिक उत्सव पर आयोजित एक समारोह में मेरे भाई ने नन्हा-सा अभिनय किया था। मेरी दादी-अम्मां चार-पांच बरस में मुश्किल से एक बार शहर आती थीं, उन्हें चिट्ठी लिख कर बुलवाया गया। मेरी मौसी अपने चारों बच्चों को लाद-फांद कर चली आईं। मेरे नाना को चूंकि फालिज मार गया था, इसलिए न तो वे आ पाए और न मेरे मामा लोग। मेरे एक चाचा सेना में हवलदार थे और पत्र मिलते ही चले आए।

वार्षिक उत्सव के रोज सबसे ज्यादा भीड़ हमीं लोगों की थी। हम लोगों ने सुबह उठते ही स्नान कर लिया और नए-नए कपड़े पहन लिए। उस दिन दोपहर को दादी-अम्मां की आंखें टेस्ट कराई गईं और शाम तक में चश्मा भी बन कर आ गया ताकि वे अपने लाडले पोते को मंच पर ठीक तरह से देख सकें। मौसी अपने बच्चों को बिना किसी तैयारी के ले आई थीं, दिन भर दर्जी बैठा रहा और शाम को जब हम लोग स्कूल की ओर बढ़े तो दृश्य बड़ा मजेदार था।

समारोह में पहुंच कर सब लोग ऊंघने लगे। क्योंकि सबसे पहले स्वामी सच्चिदानंद का एक बेहद लंबा भाषण हुआ, जो न हमारी समझ में आया, न दादी-अम्मा के पल्ले पड़ा। उसके बाद गुरुकुल कांगड़ी से आई भजन मंडली ने एक के बाद एक कई भजन सुनाए। भजन से ज्यादा हमारा ध्यान उस चिमटे की तरफ था, जो हमारा ध्यान सबसे ज्यादा आकर्षित कर रहा था। उसके बाद हेडमास्टर लाला चमनलाल ने स्कूल की प्रगति के बारे में लंबी वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी। बीच-बीच में लोग तालियां

बजाते। हमें भी ताली बजा कर बड़ा मजा आता। हेडमास्टर साहब की रिपोर्ट अभी खत्म ही हुई थी कि चंदा देने वालों के नाम पढ़े जाने लगे। उसके बाद क्या हुआ, मुझे नहीं मालूम, क्योंकि मैं अपनी दादी की गोद में सिर रख कर आराम से सो गया था। अचानक किसी ने झंझोड़ कर मुझे जगाया। मेरी आंख खुली तो मैंने देखा, मंच पर दो लड़के खड़े थे, उनमें एक मेरा भाई था। मेरे भाई के माथे से पसीना चू रहा था। परिवार के तमाम लोग दम साधे टकटकी लगा कर मंच की ओर देख रहे थे। पहले लड़के ने भाई से पूछा—

—'सिगरेट पीकर धुआं उड़ाना?'

—'यह भी गलत है।'

पहले लड़के ने भाई से इसी तरह के कई सवाल किए। भाई अपनी कांपती रुआंसी आवाज में हर बार यही कहता रहा,

—'यह भी गलत है।'

मेरी मौसी ने अम्मा से कहा—'बहन, मैं कह रही थी न कि तुमने नेकर छोटी काटी है।'

—'दादे मगौना शरमा रहा है।'

—'दादी-अम्मा, दादे मगौना क्या होता है?'—मैंने पूछा। मैं बहुत दिनों से पूछना चाहता था।

—'चुप रह, चुप रह।'—मेरी अम्मां ने मेरे कान मरोड़ दिए—'इस लड़के की जुबान तो कैंची की तरह चलती है।'

मंच से आवाज आई—'स्कूल से भाग कर सिनेमा जाना?'

—'यह भी गलत है।'

मुझे मालूम था कि इसके बाद पूछा जाएगा, तो फिर तालीम का मतलब क्या है? मैंने दादी की गोद में मुंह छिपा लिया और चिल्ला कर बोला—'तो फिर तालीम का मतलब क्या है?'

—'भारत को आजाद कराना।'—भाई ने कहा और हाल तालियों से गूंज उठा। ज्यादातर तालियां वहीं से उठ रही थीं, जहां हमारे परिवार के लोग बैठे थे। 'प्रोग्राम' खत्म हुआ कि परिवार के तमाम लोग एकबारगी उठ खड़े हुए। उसके बाद 'मिडल' के बच्चों का एक समूह गान था, मगर वे लोग अपने साथ श्रोता लेकर नहीं आए थे, इसलिए पंडाल खाली-सा लगने लगा।

मैं उन दिनों सातवीं कक्षा में पढ़ता था। पढ़ाई में मेरा मन नहीं लगता था और इच्छा थी—'क्लास' में 'फर्स्ट' आने की। सच पूछा जाए तो मुझे दिन भर यही अफसोस होता रहता था कि मेरा पढ़ाई में मन क्यों नहीं लगता। मैं सोचता कल से सब ठीक हो जाएगा। एक दिन तंग आकर, मैंने तय कर लिया कि पढ़ाई में मन लगे या न लगे, मैं पढ़ाई शुरू कर दूंगा। मैं उसी समय टाइम-टेबल बनाने में जुट गया। वे गरमियों के दिन थे, एक बजे दोपहर स्कूल में छुट्टी हो जाती थी। मैंने अपना कार्यक्रम कुछ यों बनाया—डेढ़ बजे घर पहुंचना। डेढ़े से दो गणित, दो से तीन भूगोल। तीन से साढ़े तीन हिंदी, साढ़े तीन से साढ़े चार अंग्रेजी, साढ़े चार से पांच संस्कृत। टाइम टेबल बनाते-बनाते मुझे ऊंघाई आने लगी। मैंने सोचा थोड़ी नींद ले लूं। उठ कर ताजादम होकर पढ़ाई शुरू करूंगा। गरमी की उस दोपहरी में कुछ इतनी गहरी नींद लगी कि जब गली में कुल्फी वाले की आवाज सुनाई दी, तभी खुली। मैंने भाग कर घड़ी देखी, साढ़े चार बजने वाले थे। मैंने टाइम टेबल देखा और कुर्सी घसीट कर संस्कृत पढ़ने बैठ गया। कुछ देर में 'फलम् फले फलानि' रटता रहा, फिर पाठ की तरफ ध्यान गया। एक शब्द था—'संप्रतिवान'। कुंजी में अर्थ दिया था—'हवाले कर दिया।' थोड़ी देर बाद जब मैंने दुबारा पढ़ा तो अर्थ भूल गया। मगर, मैंने तय कर लिया कि आज 'संप्रतिवान' का अर्थ कुछ इस तरह से याद करूंगा कि जिंदगी भर न भूले। मैं कुर्सी से उठा और आंगन में आ गया। आंगन में घूम-घूम कर रटने लगा : संप्रतिवान—हवाले कर दिया, संप्रतिवान—हवाले कर दिया, संप्रतिवान—हवाले कर दिया। यह रटते-रटते मैं पेड़ पर चढ़ गया। आंगन में शहतूत का पेड़ था। मैं तोड़-तोड़ कर शहतूत खाता रहा और रटता रहा, संप्रतिवान—हवाले कर दिया। इस तरह दिन ढल गया, शाम हो गई और रात को जब मैं सोने के लिए लेटा तो दिमाग में हथौड़े की तरह

शेष पृष्ठ 58 पर

अहिंसा : जरूरत सामाजिक सक्रियता की

गदा, त्रिशूल, खड़ग आदि शस्त्रों के धारक देवी-देवता व नायक या राक्षस कौन-कौन हैं? गीता में राम 'शस्त्रधारियों में विभूति आदर्श' हैं। क्या ये युद्ध व इनमें शस्त्रों के उपयोग को धर्म, नीति, संरक्षण आदि के साथ जोड़ा जाता रहा? क्या ये युद्ध सत्ता-संपदा अर्जन, उत्पीड़न-शोषण, रक्तपात-लूटपाट, अस्थिरता-अराजकता आदि का रूप ले बैठे? पृष्ठभूमि ऐसी थी, तभी क्या महावीर व बुद्ध की प्रतिक्रिया से एक नवक्रांति घटित हो सकी? पर, ऐसा इतिहास अन्यत्र क्यों नहीं बन सका और अन्यत्र इतिहास का कैसा प्रवाह बना? भारत में 'अहिंसा' कैसे एक परम परिणति है, जो केवल भारत में ही संभव हुआ! तभी, भारत का यह इतिहास रहा कि इस पर आक्रमण हुए, इसने आक्रमण किए नहीं।

भारत में अहिंसा की स्पष्ट व पूर्ण संधारणा केवल जैन धर्म में सुलभ है। पर, अहिंसा के इस जैन दर्शन की स्थिति एक पूर्ण आदर्श या 'यूटोपिया' जैसी है, कि इसका पालन ही कठिन हो जाए। शस्त्र विसर्जन व युद्ध वर्जन, मांसाहार निषेध, प्रकृति के उपयोग-उपभोग पर अहिंसक व अपरिग्रही प्रतिबंध आदि का सभी से निर्वाहन कैसे कराया जाए? गांधी स्वयं इससे अवगत थे, इसीलिए वे कहते भी थे कि उनकी 'अहिंसा' को सभी नहीं मानेंगे, पर 'सत्य' का समर्थन तो वे—'सत्य ही ईश्वर है'—कह कर वैज्ञानिकों व नास्तिकों से भी प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि 'सत्य' तो इनका भी लक्ष्य होता है। ऐसी स्थिति में क्या अहिंसा का एक 'व्यावहारिक लचीलापन' या 'प्राथमिकता क्रम' निर्धारित किया जा सकता है?

अहिंसा-हिंसा, शास्त्र-शस्त्र, भक्ति-शक्ति को साथ-साथ रखते हुए मुझे विनोबा के एक कथन से स्पष्ट व चमत्कारी तुलना मिलती है····'भक्ति को यदि शक्ति का साथ न रहा तो वह दुर्बल होगी, परंतु अपवित्र व मारक नहीं, इसके विपरीत यदि शक्ति को भक्ति का साथ न रहा तो वह सर्वनाश ही कर डालेगी····।'

आज अहिंसा पर बातें या बौद्धिक उपक्रम भले ही हो रहे हों, पर अहिंसा के पक्ष में अपेक्षित सामाजिक सक्रियता कहां है? इस तथाकथित भूमंडलीकरण-उदारीकरण के कारण, इससे पूर्ववर्ती दौर में अहिंसा व शांति के पक्ष में जैसे भी प्रयास हो रहे थे, उन पर अब

पृष्ठ 22 का शेष

मानो पाला ही पड़ गया है। वियतनाम में अमरीकी-सैन्य आक्रामकता, अणुशस्त्रों के परीक्षण व प्रसार आदि के विरोध में अमेरिका में और विशेषतः यूरोप के कितने देशों व नगरों में लाखों व्यक्ति कैसे प्रतिरोध व प्रदर्शन करते थे—वैसा अब क्यों नहीं हो रहा है? सोवियत विखंडन व पराभव के बाद अमरीकी-सैन्य आतंकवाद की मानमानियां क्यों बढ़ती जा रही हैं? शस्त्रों के उत्पादन, व्यापार, विनाशकता आदि संबंधी जो भयावह सूचनाएं व विशाल आंकड़े पहले सोवियत प्रकाशनों, 'क्लब ऑफ रोम' आदि की रिपोर्टों में हमें उपलब्ध होते थे—वैसे प्रकाशन अब क्यों नहीं हो रहे हैं? समाजशास्त्री एल्विन टॉफलर के बताए आसुरी तीन 'एम'... 'मनी-मीडिया-मॉफिया' की विश्वव्यापी पकड़ क्यों सतत मजबूत होती जा रही है, क्यों सत्ताएं व व्यवस्थाएं इतनी निर्मम व निरंकुश बनती जा रही हैं और क्यों ये इतना प्रत्यक्ष व परोक्ष हिंसात्मक प्रसार भी पा रहे हैं? क्यों जीवन की संपूर्णता को बाजार व व्यापार बनाया जा रहा है, मनुष्य सर्वत्र मशीन व संवेदनशून्य बन कर तथा आजीविका अर्जन में ही खपा रह कर कैसा निरर्थक, अनर्थ-जीवन जीने के लिए विवश है, अभिशप्त है? ऐसे में कौन पूंजीवादी देशों की लूट को समझे, मीडिया द्वारा थोपी जा रही गैरजरूरी जिंदगी से बचे, प्रकृति व पर्यावरण के विनाश को रोके और अहिंसा व शांति के पक्ष में अपनी मानवीय प्रतिबद्धता व सक्रियता का संवाहन कर सके?

अभी तो संभव ही क्या है? भले ही लोकविश्वास ने आशा को अमरधन माना है। तभी यहां मेरा ध्यान राम के—**भय बिन होत न प्रीति**—में निहित शस्त्र व शक्ति के प्रयोग, बुद्ध की अंगुलिमाल के सामने भयमुक्त अहिंसक आग्रहशील पहुंच, अहिंसा के पक्ष में गांधी के अनशन व आत्मत्याग के कई अवसर, जयप्रकाश नारायण के डाकुओं से शस्त्र समर्पण कराने व नगा क्षेत्र में शांति प्रयास करने आदि की तरफ जाता है, कि महा या लघु रूप में ऐसे प्रयास व प्रयोग होते रहें कि अहिंसा के 'संभव-असंभव' के बीच अपेक्षित संतुलन व अनुकूलन बनाए रख सकें।

महावीर व महात्मा से हमारी संगति भी तो बनी रहनी चाहिए। ❖

निज पर शासन फिर अनुशासन
की
महती भावना के साथ सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन संपन्न

❑

संप्रदाय नहीं; धर्म की पकड़ जरूरी—आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अन्वेषण हो समीक्षात्मक बुद्धि से—युवाचार्यश्री महाश्रमण

❑

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा की ओर से तेरापंथी सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन (2009) का आयोजन जैन विश्व भारती, लाडनूं में दिनांक 31 जुलाई से 2 अगस्त, 2009 तक हुआ। सम्मेलन में देश भर की 200 स्थानीय सभाओं के लगभग 600 प्रतिनिधियों ने सहभागिता की।

जैन विश्व भारती के सुधर्मा सभा में संपन्न इस त्रिदिवसीय सम्मेलन का विधिवत उद्घाटन 31 जुलाई, 2009 को प्रातः 9 बजे पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में हुआ। महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने अपने स्वागत भाषण में उपस्थित प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए चंदेरी की भूमि को प्रणाम किया और कहा कि यह भूमि आचार्यश्री तुलसी की जन्मस्थली है। समाज को आचार्यश्री तुलसी से जो अवदान मिले हैं, वे अविस्मरणीय हैं। उन्होंने अपेक्षा की कि सम्मेलन के दौरान पूज्यवरों से जो मार्गदर्शन मिलेगा, उससे हमें नई ऊर्जा प्राप्त होगी और उपस्थित प्रतिनिधि इसी ऊर्जा का संचार अपने-अपने क्षेत्र में जाकर करेंगे। उन्होंने कहा कि पूज्यवरों से प्राप्त इंगित के अनुसार महासभा हर कार्य को करने के लिए कृतसंकल्प है।

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा का
तीन दिन का सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन
2009
लाडनूं में संपन्न

महासभा के प्रभारी संत मुनिश्री धनंजयकुमारजी ने जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा को धर्मसंघ की सबसे प्राचीन संस्था बताते हुए कहा कि आचार्यश्री तुलसी व महासभा का जन्म साथ-साथ हुआ है, इसलिए इसके महत्त्व को इस दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए। उन्होंने सम्मेलन को अतीत के अवलोकन, वर्तमान की समीक्षा और भविष्य की योजना के निर्माण का अनुपम अवसर बताया और कहा कि यहां आकर प्रतिनिधियों को परिपुष्ट खुराक मिलती है और स्पष्ट दिशा-निर्देशन प्राप्त होता है। इस प्रतिनिधि सम्मेलन में सभी संभागी अपने क्षेत्र के कार्यों का मूल्यांकन भी करेंगे और अपनी असफलताओं से भविष्य का मार्गदर्शन भी प्राप्त करेंगे। उन्होंने कहा—श्रेष्ठ व सफल वही होता है, जो अपनी असफलताओं से सीखे। किसी भी व्यक्ति, संस्था या संगठन से भूल हो सकती है, पर हम अपनी कमियों को देखें, उनसे सीखें व उन्हें सुधारें तथा उनकी पुनरावृत्ति न हो—ऐसा प्रयास करें। प्रारंभ में संयोजक भी भंवरलाल सिंघी ने सम्मेलन की अवधारणा प्रस्तुत की।

31 जुलाई : पहला सत्र
समीक्षात्मक बुद्धि से अन्वेषण हो—युवाचार्यश्री

प्रथम सत्र में युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने उपस्थित प्रतिनिधियों को उद्बोधन प्रदान करते हुए कहा कि सम्मेलन में प्रतिनिधियों को पोषण प्राप्त होता है, दिशा-निर्देश मिलते हैं। हमें इस अवसर पर अपनी विशेषताओं के साथ कमियों को भी देखना चाहिए। समीक्षात्मक बुद्धि से अन्वेषण करें कि मेरा या मेरे संगठन में दुर्बल पक्ष कौनसा है और सबल पक्ष कौनसा है। हमें दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। युवाचार्यश्री ने संगठन में सेवाओं की अपेक्षा बताते हुए सेवा को धर्म बताया तथा कहा कि सेवा केवल मात्र सेवा की भावना से ही करनी चाहिए। सेवा के साथ कुछ अर्हताएं भी होनी चाहिए, तभी सेवा सफल होती है।

उन्होंने तीव्र आवेश, अहंकार, नशा और खान-पान के असंयम को प्रमुख कमियों के रूप में बताया। अपनी कमियों का परिष्कार करने के लिए निर्देशित करते हुए उन्होंने कहा कि ऐसी कोई बड़ी कमी न रहे, जो हमारी अवमानना का कारण बने।

युवाचार्यश्री ने कहा कि यदि संस्था के कोई पदाधिकारी नशा सेवन करते हैं, खान-पान में अखाद्य का प्रयोग करते हैं, तो यह उनकी अर्हता में कमी है। इसी तरह पदाधिकारी यदि सबको साथ लेकर न चल सकें, तो यह भी उनकी अर्हता में कमी है। उन्होंने संस्था में अर्थदान और समयदान—दोनों को महत्त्वपूर्ण बताया तथा कहा कि अर्थदान महत्त्वपूर्ण है तो कार्यकर्ता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हम न तो अर्थ की उपेक्षा कर सकते हैं और न कार्यकर्ताओं की उपेक्षा। इन दोनों का संतुलन कैसे बढ़े और कौन-सा कार्य किसे सुपुर्द किया जाए—यह ध्यान रखना आवश्यक है। उन्होंने जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा और स्थानीय तेरापंथी सभाओं के कार्यकर्ताओं को एक बड़े समवाय की संज्ञा दी तथा प्रतिनिधि सम्मेलन में समय का पूरा सदुपयोग तथा प्राप्ति व प्रदान का पूरा संयोग आवश्यक बताया।

स्पष्ट हों अनिवार्य व वैकल्पिक दायित्व—आचार्यप्रवर

- इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने पाथेय प्रदान करते हुए कहा कि तेरापंथी सभा हमारे धर्मसंघ की प्रतिनिधि संस्था है। स्थानीय तेरापंथी सभाओं का सीधा संबंध महासभा से है। उन्होंने सभा-भवनों में पदाधिकारियों व कार्यकर्ताओं के लिए अनिवार्य कार्यों व वैकल्पिक कार्यों की सूची लगाने की आवश्यकता बताई। आचार्यप्रवर ने अनिवार्य कामों में साधु-साध्वियों, समणियों की यात्रा व्यवस्था, सेवा, उनके प्रवचन व प्रवास की व्यवस्था को एक मुख्य दायित्व बताया, वहीं ज्ञानशाला चलाना दूसरा अनिवार्य कार्य बताते हुए छोटे बच्चों में संस्कार निर्माण को मुख्य कार्य बताया। आचार्यप्रवर ने स्थानीय बड़ी सभाओं के लिए अपने आस-पास की छोटी सभाओं का दायित्व लेकर उनका पूरा ध्यान रखना आवश्यक बताया। इसके अंतर्गत उन्होंने तेरापंथी परिवारों के लिए साधर्मिक वात्सल्य भाव से उनकी सार-संभाल व उनके स्थिरीकरण को ध्यान में रखना आवश्यक बताते हुए कहा कि यदि कोई तेरापंथी परिवार डांवांडोल हो रहा हो तो उसका स्थिरीकरण किया जाना चाहिए।

वैकल्पिक कार्यों के अंतर्गत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने बताया कि जैन धर्म के महत्त्व व गरिमा के लिए प्रचार-प्रसार करना, गोष्ठियां आयोजित करना, समस्या व समाधानपरक कार्यक्रम आयोजित करना, अणुव्रत समितियों के अभाव में अणुव्रत के काम को आगे बढ़ाना तथा अपेक्षित सहयोग प्रदान करना आदि सभाओं के वैकल्पिक कार्य होने चाहिए। सभाओं की चुनाव प्रणाली के संबंध में बताया कि पद को लेकर लालसा तो सभी में हो सकती है, परंतु जब इच्छुक व्यक्ति के समक्ष कार्य सूची के रूप में लक्ष्य, दायित्व व कार्यक्रम स्पष्ट रूप से रख दिये जाएं, तो सिर्फ जिम्मेदार व्यक्ति ही संस्थाओं का कार्यभार संभालेंगे।

उन्होंने स्थानीय तेरापंथी सभाओं के साथ-साथ महासभा का दायित्व स्पष्ट करते हुए कहा कि सबको एक सूत्र में बांधकर रखना, सभी सभाओं के कार्य संचालन पर ध्यान रखना व यात्राएं करना महासभा के लिए आवश्यक है। महासभा के भी अनिवार्य और वैकल्पिक दायित्व व कार्य एक पट्ट पर उल्लेखित होने चाहिए। उन्होंने कहा कि इस सम्मेलन में सारी व्यवस्थाओं व संगठन की कमियों पर विचार हो। नए को जोड़ना और पुराने या अनुपयोगी को छोड़ना जरूरी है। उन्होंने कहा कि बड़े शहरों की सभाएं केवल श्रावकों तक सीमित न रह कर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार भी करें, तभी संगठन शक्तिशाली बनेगा। उन्होंने उपस्थित प्रतिनिधियों को सम्मेलन में धर्मसंघ के विकास के कार्यक्रमों के बारे में गहन चिंतन करने की प्रेरणा प्रदान की।

31 जुलाई, 2009 : द्वितीय सत्र युगीन संदर्भ में सभाओं की भूमिका

दूसरे सत्र में श्री जैन श्वेतांबर तेरापंथी सभा, लाडनूं के अध्यक्ष श्री कमलसिंह बैद ने उपस्थित प्रतिनिधिगणों का स्वागत करते हुए अपनी काव्यात्मक प्रस्तुति दी और 'आचार्यश्री महाप्रज्ञ चातुर्मास प्रवास व्यवस्था समिति' के मंत्री श्री बच्छराज नाहटा ने अपने संबोधन में आचार्यश्री तुलसी की जन्मभूमि, महाप्रज्ञजी की कर्मभूमि और समाज की कामधेनु में प्रतिनिधियों के स्वागत को अपने-आप में गौरव का विषय बताया।

प्रारंभ में राष्ट्रीय संयोजक श्री भंवरलाल सिंघी ने अपने संयोजकीय वक्तव्य में कहा कि महासभा और सभाओं का आपसी संवाद व्यवस्थित चले तथा योजनाबद्ध कार्य हों—तभी इस सम्मेलन की उपादेयता है। उन्होंने कहा—हमें सजगता के साथ आगे बढ़ना है और प्रगति करनी है।

महासभा के निवर्तमान अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया ने—**युगीन संदर्भ में सभाओं की भूमिका**—विषय पर बोलते हुए गत प्रतिनिधि सम्मेलन में पूज्यवरों द्वारा प्रदत्त पांच सूत्रों की चर्चा की और बताया कि स्वस्थ स्वास्थ्य, स्वस्थ समाज, स्वस्थ मन, स्वस्थ स्वाध्याय एवं स्वस्थ संस्कार पर हमारी सभाएं अधिक से अधिक ध्यान दें एवं स्थानीय तेरापंथ भवनों में इन्हें प्रारंभ करने का प्रयास करें। उन्होंने सभा पदाधिकारियों एवं कार्यकारिणी सदस्यों को सभा के नियमित कार्य पूर्ण जिम्मेदारी के साथ करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि महासभा की गतिविधियों में सभाओं की सक्रिय सहभागिता होनी चाहिए।

महासभा के प्रधान ट्रस्टी श्री चैनरूप चिंडालिया ने किसी भी संस्था के लिए 'मेन पावर', 'मोरल' व 'मनीपावर' को जरूरी बताते हुए महासभा की आर्थिक स्थिति की जानकारी प्रस्तुत की एवं महासभा के 'कॉरप्स-फंड' को बढ़ाने की आवश्यकता बताई। उन्होंने कहा कि **आचार्यश्री तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष** में अनेक प्रवृत्तियां आने वाली हैं। इसके लिए पर्याप्त कोष जरूरी है। इसके लिए सक्षम सभाओं को आगे आना चाहिए और अपना अंशदान महासभा को देना चाहिए। अतः सभी सभाएं आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनें—यह आवश्यक है।

महासभा के महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया ने महासभा द्वारा संचालित मुख्य गतिविधियों की जानकारी प्रस्तुत करते हुए कहा कि ज्ञानशालओं में अधिक से अधिक बच्चे आएं तथा उपासक श्रेणी के लिए भी सभी क्षेत्रों से ज्यादा से ज्यादा कार्यकर्ता आगे आएं। उन्होंने **मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना** के बारे में बताते हुए कहा कि कोई भी जरूरतमंद मेधावी विद्यार्थी अर्थाभाव में शिक्षा से वंचित न रहे, इस हेतु सभाएं ध्यान दें। उन्होंने विसर्जन योजना व तेरापंथ परिवार जनगणना आदि के बारे में भी जानकारी प्रदान की।

पंजाब से समागत विधायक श्री मंगतराम बंसल ने पूज्यवरों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए सम्मेलन में अपनी सहभागिता को अपने लिए अत्यंत प्रसन्नता का विषय बताया। उन्होंने विधायक निधि से रुपए ग्यारह लाख की राशि पंजाब में निर्माणाधीन तेरापंथ भवनों की संपूर्णता के लिए प्रदान करने की घोषणा की। महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने श्री बंसल को साहित्य भेंट कर सम्मानित किया।

खुला सत्र

यह खुला सत्र था। इस खुले सत्र के अंतर्गत श्री तुलसीराम जैन (तुषरा), श्री शुभकरन नौलखा (सिलीगुड़ी), श्री मांगीलाल छाजेड़ (बैंगलोर), श्री बाबूलाल डूंगरवाल (गुलाबबाग), श्री जयचंदलाल दूगड़ (कूचविहार), श्री सुरेंद्र मरोठी (सूरत), श्री नरेंद्र सुराणा (अहमदाबाद), श्री प्रवीण जैन (गोविंदगढ़ मंडी), श्री महालचंद सुराणा (विराटनगर), श्री बजरंगलाल नाहटा (नौगांव), श्री इंद्रचंद जैन (फरीदाबाद) और श्री ज्ञानचंद जैन आदि ने अपने विचार, सुझाव एवं जिज्ञासाएं प्रस्तुत कीं। महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने प्रतिनिधियों की जिज्ञासाओं को समाहित किया।

शीलानता व गरिमा बनी रहे—युवाचार्यश्री

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने उद्‌बोधन में कहा कि सभाओं के चुनाव के संबंध में अर्हताएं तय होनी चाहिए। मनाव ठीक होता है, परंतु चुनाव भी बुरी बात नहीं है। उसमें शालीनता होनी चाहिए। चुनाव को राजनीतिक रंग नहीं दिया जाना चाहिए। सभा एक धार्मिक एवं सामाजिक संगठन है। अतः इसकी गरिमा का हमेशा ध्यान रहना चाहिए। युवाचार्यश्री ने कहा कि तेरापंथ समाज द्वारा संचालित 100-125 विद्यालयों में जीवनविज्ञान कोई न कोई रूप में लागू है, पर उनमें जैन धर्म की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। पर्युषणकाल में विद्यालयों में प्रतिदिन आधा घंटे की व्याख्यानमाला आयोजित की जा सकती है, जिसमें बच्चों को जैन धर्म के बारे में जानकारी कराई जा सकती है। युवाचार्यप्रवर ने महासभा की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों—ज्ञानशाला एवं उपासक श्रेणी के बारे में प्रेरणा प्रदान करते हुए कहा कि ज्ञानशालाओं की गुणवत्ता को बढ़ाना चाहिए। परिवारों की संख्या के अनुपात में समाज के कितने बच्चे ज्ञानशाला में आ रहे हैं—इसकी समीक्षा हो। जहां ज्ञानशाला नहीं चल रही हो, तो उसके कारणों तथा चलाने की संभावनाओं का पता लगाएं। युवाचार्यश्री ने कहा कि राजनीति बुरी चीज नहीं है, पर राजनीति में अच्छे आदमी होने चाहिए। राजनीति को भी निखरने का तब अवसर मिलेगा।

31 जुलाई, 2009 : तृतीय सत्र

इस सत्र में महासभा के अंतर्गत संचालित **तेरापंथ मैरिज ब्यूरो** के राष्ट्रीय संयोजक श्री सौभाग्य जैन ने 'मैरिज ब्यूरो' की महत्ता बताते हुए कहा कि वर्तमान में वर-वधु की

तलाश का काम जटिल हो गया है। यह समझते हुए महासभा द्वारा इस हेतु बनाई गई 'वेबसाइट' **www.terapanthvivah.com** पर विवाह योग्य लड़के-लड़कियों के बारे में जानकारी देने के लिए देशभर की सभाओं को परिपत्र भेजे गए हैं। जांच पड़ताल के बाद उनकी जानकारियां 'वेबसाइट' पर उपलब्ध कराई जाएगी। उन्होंने सभा-प्रतिनिधियों से आह्वान किया कि इस 'वेबसाइट' में समाज के विवाह योग्य लड़के-लड़कियों का परिचय रहना चाहिए, तभी इसकी उपयोगिता है। उन्होंने सूरत आदि स्थानों पर रखे गए युवक-युवती परिचय सम्मेलन की सफलता के बारे में भी जानकारी दी तथा अन्य स्थानों पर भी ऐसी पहल की अपेक्षा की। श्री सुधांशु जैन, मुंबई ने प्रतिनिधियों के समक्ष 'वेबसाइट' का 'डेमो' प्रदर्शित किया तथा इसके उपयोग एवं उपयोगिता के बारे में विस्तार से जानकारी प्रदान की।

संघ और समाज-विकास : नई दिशाएं और संभावनाएं

इसी सत्र में महासभा के सहमंत्री डॉ. राज सेठिया ने **संघ और समाज-विकास : नई दिशाएं और संभावनाएं** विषय पर 'स्लाइड-शो' के माध्यम से प्रतिनिधियों को रोचक प्रशिक्षण प्रदान किया। अतीत के अनुभवों पर विस्मरण की छाया, थाम लो अंगुली गुरु की, विचारणीय प्रश्न, दिशाभ्रम, दिशासूचक मंत्र और भूल-भुलैया, समाज की निरंकुशता व अनुशासनहीनता, धन का प्रभाव, नजरिया बदलने तथा मुद्रा, भाषा, भोजन, भवन और भावना के पांच सूत्री कार्यक्रम की जानकारी 'स्लाइड्स' के माध्यम से दी गई।

आध्यात्मिक विकास के सूत्र

इसी सत्र में मुनिश्री कुमारश्रमणजी ने **आध्यात्मिक विकास के सूत्र** विषय पर अपना उद्‌बोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने आत्मा, मित्र-परिजन, परिवार-जन तथा धन-दौलत को चार पत्नियों के रूप में प्रस्तुत करते हुए सेठ की स्थिति का चित्रण 'रूपक' के रूप में पेश किया और बताया की जीवन-भर सबसे उपेक्षित मात्र आत्मा ही अंत तक साथ निभा सकती है। उन्होंने 'सम्यक्त्व' को आधार मानते हुए कहा कि यह संख्या—'1' है और बाकी क्रियाएं '0' है। सम्यक्त्व के बाद बाकी क्रियाएं उसकी वैसे ही वृद्धि करती है। जैसे '1' के बाद लगने वाले '0' उसे बढ़ाते हैं। यदि 1 को छोड़ दिया जाये तो कितने ही '0' लगाए सिर्फ '0' ही रहता है। उन्होंने सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा व अस्तित्व की व्याख्या की। उन्होंने तेरापंथी सभाओं को आध्यात्मिक-धार्मिक संस्था बताते हुए कहा कि हमें यह देखना है कि इनके पदाधिकारी कितने धार्मिक हैं? यदि हम आध्यात्मिक नहीं है तो हमें धार्मिक संस्था के स्थान पर किसी अन्य संस्था में काम करना चाहिए। सभा-पदाधिकारियों ने एक साल में कितने बारहव्रती श्रावक तैयार किए, कितने उपासक बनाए—आदि का आकलन होना चाहिए। मुनिश्री ने समाज में तलाक, दहेज की समस्या, रात्रि-भोज, मांसाहार, शराब की समस्या पर चिंता व्यक्त करते हुए उपस्थित प्रतिनिधियों से कहा कि आप समाज के कर्णधार हैं, अतः समाज को संभाले व इन समस्याओं को बढ़ने से रोकें एवं इनके समाधान हेतु आवश्यक कदम उठायें।

धर्म, अर्थ काम का संतुलन बनाएं—युवाचार्यश्री

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने उद्‌बोधन में सभाओं की व्यवस्थाओं के बारे में अपना स्पष्ट मत प्रस्तुत किया और कहा कि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जहां एक मुख्य सभा है और उसके अंतर्गत उपनगरीय सभाएं भी हैं—वहां यह देखना जरूरी है कि उनका आपसी संबंध कैसा है? उनके परस्पर दायित्व और पृथक-पृथक दायित्व क्या रहे—यह स्पष्ट होना चाहिए, ताकि उनके आपसी ताल-मेल में कोई बाधा न हो। उन्होंने कहा कि सभी पदाधिकारी व कार्यकारिणी सदस्य नशामुक्त हों, मद्यपान से वंचित हों। उन्होंने धर्म, अर्थ व काम का संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता बताई।

1 अगस्त 2009 : प्रथम सत्र : दूसरा दिन

सम्मेलन के दूसरे दिन के पहले सत्र में महासभा के अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने **संस्कार निर्माण : आज की परम आवश्यकता** विषय पर अपनी प्रस्तुति प्रदान करते हुए संस्कारों को सुरक्षित रखने हेतु भावी पीढ़ी को सुसंस्कारित करने की सबसे प्राथमिक अपेक्षा बताई।

सदाचरण से होते हैं प्रभावित

मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी ने उक्त विषय पर प्रेरणा प्रदान करते हुए कहा कि हमें सद्‌गुणों पर आचरण करके अपने जीवन को संस्कारित बनाना चाहिए। बच्चों, युवाओं, प्रौढ़ों—सभी के लिए गुणों का आचरण आवश्यक है। बच्चों को संस्कारित करेंगे तो युवापीढ़ी स्वतः संस्कारवान हो जाएगी। आत्म-चिंतन करके हर व्यक्ति को

आदर्श बनना चाहिए कि कोई भी कभी उसके चरित्र पर लांछन नहीं लगा सके। सदाचरण से सभी लोग प्रभावित होते हैं। समाज में चुन कर आए व्यक्तियों को सोचना चाहिए कि लोग उन्हें देख कर वैसा ही आचरण करेंगे। अतः उन्हें अपने आचरण का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

संस्कार निर्माण आवश्यक—युवाचार्यश्री

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने कहा कि महासभा समाज की प्रतिनिधि संस्था है। इसमें चुने हुए लोगों का सम्मान होना चाहिए, वे गरिमापूर्ण होते हैं। उन्होंने कहा कि अनावश्यक खर्च संस्थाओं में नहीं होना चाहिए, कोई अनावश्यक खर्च करे तो उसे मंजूरी नहीं दी जानी चाहिए। उन्होंने धन के सदुपयोग पर जोर दिया तथा संस्कार निर्माण की आवश्यकता बताई। युवाचार्यश्री ने आगम-साहित्य एवं अन्य संघीय साहित्य के संदर्भ में भी जानकारी प्रदान की।

साहित्य घर की शोभा मात्र नहीं

प्रो. मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी ने बताया कि जैन आगम-साहित्य लेखन के क्षेत्र में अनेक प्रकार की योजनाएं क्रियान्वित हो रही हैं, जिनमें आगम-साहित्य के अंग्रेजी में अनुवाद का कार्य भी एक है। भाषा एक ऐसा माध्यम है, जिससे हम विश्व के कोने-कोने में पहुंच सकते हैं। उन्होंने अनेक आगमों के अंग्रेजी अनुवाद के बारे में जानकारी प्रदान की। उन्होंने कहा कि साहित्य घरों की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं है। साहित्य विदेशों में भी पहुंचे व उन्हें भी जानकारी मिले, इसके लिए साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार आवश्यक है।

इस अवसर पर बेल्जियम से समागत श्री सुरेंद्र बोरड़ पटावरी ने साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए पांच लाख रुपये के अनुदान की घोषणा की।

मुनिश्री धनंजयकुमारजी ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा लिखित नवीन पुस्तक **शरीर और आत्मा** तथा युवाचार्यश्री महाश्रमण द्वारा लिखित पुस्तक **महात्मा महाप्रज्ञ** के बारे में बताते हुए कहा कि यह दोनों पुस्तकें बहुत लोकप्रिय हुई हैं तथा सभी के लिए पठनीय एवं संग्रहणीय हैं। बहुत ही कम समय में **महात्मा महाप्रज्ञ** पुस्तक के पांच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

तेरापंथ किसी से कम नहीं—आचार्यश्री

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने उद्‌बोधन में जैन आगमों एवं संघीय साहित्य की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए अंग्रेजी के **समयसार** को विश्व साहित्य में अध्यात्म की प्रमुख पुस्तक बताया तथा—**प्रेक्षा एंड जैनिज्म**, **एन इंट्रोडक्शन टू प्रेक्षा मेडिटेशन**, **एन इंट्रोडक्शन टू जैनिज्म**—पुस्तकों को भी महत्त्वपूर्ण बताया। उन्होंने कहा कि कुछ लोग अहिंसा की बात करते हैं, तो कुछ लोग अपरिग्रह की बात करते हैं, लेकिन भगवान महावीर ने इन दोनों को अलग नहीं किया। हिंसा और परिग्रह एक-दूसरे से संबद्ध है। इसलिए अहिंसा और अपरिग्रह—दोनों की बात एक साथ करते हुए परिष्कार करना चाहिए। उन्होंने आचार्यश्री तुलसी के बारे में कहा कि उनके जैसा कल्पनाशील व्यक्ति नहीं देखा। वे दिन में भी सपने देखते थे, जिन्हें पूरा करना कठिन होता है। तेरापंथ आज इस स्थिति में है कि उनके सपने, उनकी कल्पना को पूरा कर सकता है। यह आचार्यश्री तुलसी के श्रम का प्रभाव है कि तेरापंथ आज इस दुनिया में किसी से कम नहीं है।

सम्मान और स्मृति-चिह्न अर्पित

इस अवसर पर महासभा के अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने श्री कन्हैयालाल चोरड़िया 'एडवोकेट' (गोगुंदा-उदयपुर), 'एडवोकेट' श्री राज भोगमल संघवी (मुंबई), श्री मुकुल भाई झवेरी (मुंबई) एवं श्री अशोक भाई संघवी (वाव-सूरत) को विशिष्ट सेवाओं के लिए स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया।

महासभा द्वारा निर्मित सी.डी. **ज्ञानशाला : साप्ताहिक क्लास** एवं **ज्ञानशाला : एक शुभ भविष्य** का लोकार्पण महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा एवं प्रयोजक श्री अशोक संचेती (मोमासर-दिल्ली) द्वारा पूज्यवरों के करकमलों में समर्पित कर किया गया। महासभा अध्यक्ष ने श्री अशोक संचेती के सहयोग हेतु उन्हें स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया। तेरापंथी सभा, मुंबई द्वारा बनाए गए 800 बारहव्रती श्रावकों की सूची सभा के पदाधिकारियों के द्वारा पूज्यवरों को समर्पित की गई।

सम्मेलन में प्रायोजक के रूप में सहयोग हेतु श्री कन्हैयालाल जैन पटावरी (मोमासर-दिल्ली), श्री पन्नालाल बैद (चाड़वास-दिल्ली), श्री रमेश कुमार हमेरलाल धाकड़ (सिसोदा-मुंबई), श्री चंपालाल चौपड़ा (गंगाशहर-सूरत), श्री रमेश कोठारी (गजपुर-सूरत), श्री राकेश शुभकरन कठोतिया (लाडनूं-मुंबई), श्री नरेंद्र श्यामसुखा

(सरदारशहर-कोलकाता) एवं श्री सुरेंद्र संतोष दुगड़ (सरदारशहर-कोलकाता) को स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया। सम्मेलन की विभिन्न व्यवस्थाओं में सहयोग हेतु—'आचार्यश्री महाप्रज्ञ प्रवास व्यवस्था समिति', 'श्री जैन श्वेतांबर तेरापंथी सभा, लाडनूं' व 'जैन विश्व भारती' को भी स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया।

1 अगस्त, 2009 : द्वितीय सत्र

बच्चों को संस्कारित करने का उपक्रम—ज्ञानशाला

महासभा के ज्ञानशाला प्रकोष्ठ के राष्ट्रीय संयोजक श्री सोहनराज चौपड़ा ने बताया कि बच्चों में संस्कार निर्माण का मुख्य उपक्रम है—**ज्ञानशाला**। बालकों में संस्कार निर्माण, जैनत्व की जानकारी एवं उनके धार्मिक संस्कारों के वपन हेतु ज्ञानशाला एक सशक्त माध्यम है। उन्होंने वर्तमान में संचालित ज्ञानशालाओं, ज्ञानार्थियों एवं प्रशिक्षकों की संख्या आदि के बारे में जानकारी प्रदान की। उन्होंने समागत प्रतिनिधियों से अपने-अपने क्षेत्रों में ज्ञानशालाओं के संचालन का दायित्व निभाने, नई ज्ञानशालाओं को शुरू करने एवं वर्तमान में संचालित ज्ञानशालाओं के क्रम को सुदृढ़ करने का निवेदन किया।

उपासक श्री डालिमचंद नौलखा ने उपासक श्रेणी के विषय-में प्रतिनिधियों को जानकारी प्रदान की तथा उपासक प्रशिक्षण शिविर, प्रशिक्षित उपासकों की संख्या, पर्युषण आराधना में उपासकों की उपयोगिता आदि पर प्रकाश डाला।

केंद्रीय निर्देशों की अनुपालन हो

तेरापंथ विकास परिषद के संयोजक श्री लालचंद सिंघी ने **केंद्रीय निर्देशों की अनुपालना** विषय पर बताया कि केंद्र द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले निर्देशों की पालना करना सबका दायित्व है। निर्देशों की पालना किस सीमा तक हो रही है, उसका भी ध्यान रहना चाहिए। उन्होंने कहा कि तेरापंथ सभा के भवनों का उपयोग किसी होटल-रेस्टोरेंट की तरह नहीं होना चाहिए, उनमें संघीय एवं सामाजिक प्रवृत्तियां चलनी चाहिए। साथ ही तेरापंथ युवक परिषद व तेरापंथ महिला मंडलों को उनकी प्रवृत्तियां चलाने हेतु सभा-भवनों में स्थान उपलब्ध कराया जाना चाहिए। सभा-भवनों में निरंतर गतिविधियां चलनी चाहिए। मेधावी छात्रों के साथ-साथ तेरापंथ समाज के अन्य जरूरतमंद बच्चों को भी छात्रवृत्ति दी जानी चाहिए। ज्ञानशाला में किए जाने वाले खर्च को खर्च के बजाए निवेश समझा जाना चाहिए। हम पूज्यवरों के समक्ष अपने विचार रखें और पूज्यवरों के निर्णय के बिना ही उसे उनकी अनुमति मान बैठें—ऐसा नहीं मान लेना चाहिए।

मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना

इसी सत्र में जैन विश्व भारती के अध्यक्ष एवं मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना के संयोजक श्री सुरेंद्र चोरड़िया ने मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना की पृष्ठभूमि के बारे में बताते हुए कहा कि पूज्यवरों के इंगित की आराधना करते हुए महासभा ने यह चिंतन किया कि समाज का कोई भी मेधावी विद्यार्थी 'अर्थ' के अभाव में शिक्षा से वंचित न रहे और इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सन् 2006 से यह परियोजना प्रारंभ की गई। उन्होंने गत तीन वर्षों में प्रदत्त छात्रवृत्तियों के बारे में भी जानकारी प्रदान की तथा समागत प्रतिनिधियों से इस योजना में सहयोग प्रदान करने की अपील की।

समाजोत्थान के कार्य

जय तुलसी फाउंडेशन के पूर्व प्रबंध न्यासी श्री बनेचंद मालू ने जय तुलसी फाउंडेशन द्वारा किए जा रहे समाजोत्थान कार्यों की जानकारी प्रदान की। उन्होंने बताया कि कोई भी जरूरतमंद परिवार सहायता प्राप्त करने के लिए आवेदन करे और सभाओं का दायित्व है कि वे उस परिवार की वास्तविक स्थिति की जानकारी कर 'फाउंडेशन' को अग्रेसित करें। इस सहायता से कहीं अकर्मण्यता को पनपने का मौका न मिले, इसका ध्यान रखें।

जैन विश्व भारती—त्रिवेणी है

समणी मल्लिप्रज्ञाजी ने जैन विश्व भारती को सत्यं शिवं सुंदरं की त्रिवेणी बताया। उन्होंने बताया कि आचार्यश्री तुलसी ने इसे कामधेनु की संज्ञा दी थी, जहां सभी समस्याओं का समाधान संभव है। उन्होंने यहां संचालित 'सप्तसकार' रूपी गतिविधियों के बारे में बताते हुए प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय के उच्च स्तरीय अध्ययन के बारे में जानकारी प्रदान की।

खुला सत्र भी चला

तत्पश्चात् खुला सत्र के प्रश्नोत्तर का क्रम चला। इस सत्र में लिखित एवं मौखिक जिज्ञासाओं का समाधान महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने प्रस्तुत किया।

1 अगस्त 2009 : तृतीय सत्र
तेरापंथ परिवारों से संपर्क : विसर्जन योजना

दूसरे दिन का तीसरा सत्र रात्रिकालीन सत्र था। इस सत्र में महासभा द्वारा संचालित विसर्जन योजना के बारे में बताते हुए महासभा के उपाध्यक्ष एवं राष्ट्रीय विसर्जन प्रभारी श्री हीरालाल मालू ने अब तक की गति-प्रगति की जानकारी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि अभाव एवं प्रभाव, दोनों को मिटाने में यह योजना बड़ी कारगर सिद्ध हुई है। उन्होंने कहा कि अभी तक लगभग 22000 परिवारों से संपर्क हो पाया है। हमारा लक्ष्य पूरे तेरापंथी परिवारों से संपर्क करना है और यह तेरापंथी सभाओं के सक्रिय प्रयासों से ही संभव हो पाएगा। श्री मालू ने विसर्जन योजना के संदर्भ में प्राप्त पत्रों एवं लोगों के विचारों व सुझावों की जानकारी भी प्रस्तुत की। उन्होंने राज्यवार विसर्जन योजना के अंतर्गत परिवारों के संपर्क, एकत्रित राशि आदि की जानकारी प्रदान करते हुए इसमें सहयोगी रहे सभी क्षेत्रीय संयोजकों, सह संयोजकों, सहभागी सभाओं एवं परिवारों को धन्यवाद दिया। उन्होंने श्रेष्ठ कार्य करने वाली सभाओं में **मुंबई**, **दिल्ली** एवं **जंसोल** सभा को स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया। विसर्जन योजना के सत्तरह क्षेत्रीय संयोजकों को भी स्मृति-चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया। इस योजना में सहभागी दो सौ आठ सभाओं को भी प्रशस्ति पत्र प्रदान किये गये।

तेरापंथ परिवार जनगणना

महासभा द्वारा संचालित तेरापंथ परिवार जनगणना के राष्ट्रीय संयोजक श्री जतनमल गेलड़ा ने तेरापंथ परिवार जनगणना के बारे में बताते हुए इसकी 'वेबसाइट' **www.terapanthjanganana.com** का 'डेमो' प्रदर्शित किया एवं बताया कि लगभग 50000 परिवारों के आंकड़े एक 'फारमेट' में संकलित किए जा चुके हैं। छूटे हुए परिवारों से भी विभिन्न माध्यमों से संपर्क किया जा रहा है। परिवारों की जानकारी 'अपडेट' करने के लिए एवं नया प्रपत्र भरने के लिए 'वेबसाइट' में 'ऑनलाइन' विकल्प दिया हुआ है। उन्होंने सभाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में जनगणना के बारे में लोगों को जानकारी कराने एवं सभी को अपने परिवारों की जानकारी 'वेबसाइट' में 'अपडेट' कराने हेतु आह्वान किया।

श्रेष्ठ व विशिष्ट सभा की घोषणा

इसी सत्र में राष्ट्रीय संयोजक श्री भंवरलाल सिंघी ने श्रेष्ठ व विशिष्ट सभा के बारे में जानकारी देते हुए कहा कि—महासभा द्वारा प्रतिवर्ष 'एफिलिएटेड' सभाओं में से श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा का चयन किया जाता है। इस बार भी सभी 'एफिलिएटेड' सभाओं से प्रगति विवरण मंगवाए गए एवं प्राप्त विवरणों का पूरा अध्ययन कर उन्हें निर्धारित बिंदुओं के आधार पर अंक दिए गए। ज्ञानशाला संचालन, उपासक श्रेणी में सहभागिता, विसर्जन योजना में सहभागिता, समयबद्ध चुनाव, परिवारों से संपर्क आदि बिंदुओं के आधार पर श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा का चयन किया जाता है। इस हेतु नौ व्यक्तियों की एक चयन समिति बनाई गई, जिसने प्राप्त एक सौ नौ सभाओं के आवेदनों का मूल्यांकन किया।

महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने इस वर्ष चयनित श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा के नामों की घोषणा की। श्रेष्ठसभा—**कोलकाता**, विशिष्ट सभा—**उधना**। इसी के साथ श्रेष्ठ सभा की समकक्ष श्रेणी के रूप में प्रोत्साहन स्वरूप **मुंबई सभा** एवं विशिष्ट सभा के समकक्ष श्रेणी के रूप में प्रोत्साहन स्वरूप **कांकरिया-मणिनगर सभा** के नामों की घोषणा की गई।

2 अगस्त 2009 : प्रथम सत्र : तीसरा दिन

सम्मेलन के तीसरे और आखिरी दिन के पहले सत्र में महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने बताया कि महासभा अपनी स्थापना के एक सौ वर्ष पूर्ण करने जा रही है। चार साल बाद महासभा का शताब्दी वर्ष मनाया जाएगा, जिसमें पूरे समाज के सहयोग की अपेक्षा है। इसी वर्ष क्रांतिकारी आचार्यश्री तुलसी की जन्मशताब्दी भी है। श्री चौपड़ा ने आचार्यश्री तुलसी जन्मशताब्दी का कार्य महासभा को प्रदान करने हेतु पूज्यवरों से निवेदन किया एवं कहा कि महासभा इसके लिए पूरी तरह सक्षम है।

महासभा के निवर्तमान अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया ने बताया कि महासभा तेरापंथ धर्मसंघ की सबसे प्राचीन एवं प्रतिनिधि संस्था है। इससे समाज का सीधा संपर्क है। उन्होंने महासभा की गतिविधियों का उल्लेख करते हुए विसर्जन योजना एवं तेरापंथ परिवार जनगणना के कार्य को श्रेष्ठ बताया।

महासभा के राष्ट्रीय संयोजक श्री भंवरलाल सिंघी ने प्रारंभ में कहा कि कार्यकर्ताओं के बल पर हर कार्य संभव है, अतः इसके लिए संस्थाओं का विभाजन या कार्यकर्ता व

पदाधिकारियों में अंतर करना गलत है। तेरापंथी सभा, तेरापंथ युवक परिषद और तेरापंथ महिला मंडल—तीनों एक हैं, इनका लक्ष्य एक है, इनके कार्य एक हैं। धर्मसंघ के हर कार्यक्रम में सभी की पूरी सहभागिता रहनी चाहिए।

2 अगस्त 2009 : द्वितीय सत्र
अनुशासन सहिष्णुता जरूरी—समणी नियोजिका

समणी नियोजिका मधुरप्रज्ञाजी ने कहा कि हमारे धर्मसंघ की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था महासभा है और स्थानीय सभाएं उसकी इकाइयां हैं। सभाओं का यह सम्मेलन धर्मसंघ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहां प्रतिनिधियों को प्रेरणा पाथेय मिलता है। प्रत्येक सभा के अध्यक्ष व मंत्री अपने दायित्व के प्रति सजग होने चाहिए, उन्हें पता होना चाहिए कि कहां क्या हो रहा है? सजग होकर ही कार्य को आगे बढ़ाया जा सकता है। उन्होंने धर्मसंघ की हर गतिविधि के सूक्ष्म अध्ययन की जरूरत बताई तथा जीवन को अनुशासित करके कार्य को आगे बढ़ाने व सहिष्णुता अपनाने पर बल दिया।

ज्ञान की शक्ति के बिना पिछड़ जाएंगे—कुलपति

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय की कुलपति डॉ. समणी मंगलप्रज्ञाजी ने 'ज्ञान की शक्ति' पर बोलते हुए कहा कि—जिस समाज में ज्ञान नहीं होगा, वह पिछड़ जाएगा। उन्होंने विश्वविद्यालय के बारे में जानकारी देते हुए कहा कि तेरापंथ धर्मसंघ में उच्च शिक्षा का केंद्र **जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय** है। आचार्यश्री तुलसी की कल्पना के अनुरूप इसे 'यूनीक' बनाए जाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। देश-विदेश के विद्वान यहां जैन विद्या का अध्ययन करने आते हैं। यहां प्राकृत व संस्कृत पर विशेष कार्य हो रहा है। विश्वविद्यालय के विकास में सबके सहयोग की आवश्यकता है।

शालीन व्यवहार से आएगा सामंजस्य—युवाचार्यश्री

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने **स्वस्थ परिवार का आधार : सामंजस्य**—विषय पर उद्बोधन प्रदान करते हुए कहा कि सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भाव नहीं है—यह अहिंसा का संदेश है। उन्होंने कहा कि झगड़े का एक स्थान खुद का परिवार भी होता है। परिवार आपसी सामंजस्य के बिना रुग्ण बन जाता है। सामंजस्य के लिए भी आधार चाहिए। सामंजस्य बिगड़ने में आग्रह की वृत्ति एक कारण है। स्वार्थ भी कलह का कारण है, यह भी सामंजस्य को बिगाड़ देता है। एक-दूसरे को सहना चाहिए। गलती पर कहना चाहिए, पर शांति से रहना चाहिए। हमारा व्यवहार कभी भी उद्दंडतापूर्ण नहीं होना चाहिए। व्यवहार शालीन हो तो सामंजस्य पनपेगा ही।

संप्रदाय नहीं; धर्म की पकड़ जरूरी—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रेरणा पाथेय प्रदान करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि आचार्यश्री तुलसी ने धर्म को नए रूप में प्रस्तुत किया, जो किसी संप्रदाय विशेष का न होकर सभी के लिए उपयोगी है और वह है—अणुव्रत। दो तरह के लोग होते हैं—एक वे जो संप्रदाय को छोड़ देते हैं, लेकिन धर्म को नहीं छोड़ते। दूसरे व जो धर्म को तो छोड़ सकते हैं, लेकिन संप्रदाय को नहीं। संप्रदाय की पकड़ के बजाय, धर्म की पकड़ आवश्यक है। उन्होंने अणुव्रत को युगधर्म की संज्ञा दी। उन्होंने सभाओं के प्रतिनिधियों से कहा कि जहां तेरापंथ सभा-भवन हैं, वहां अणुव्रत का काम चलना चाहिए। उन्होंने गणाधिपति पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रतिपादित **नया मोड़** को आज की समस्याओं का समाधान बताते हुए इस पर नए सिरे से चिंतन करने की बात कही। उन्होंने भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उपभोग के सीमाकरण को आज के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत उपयोगी बताया।

साहित्य भेंट

महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने विधायक श्री अशोक पींचा एवं दक्षिण गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. बी.ए. प्रजापत को महासभा की ओर से साहित्य भेंट कर सम्मानित किया।

2 अगस्त 2009 : द्वितीय सत्र
पारिवारिक समस्याएं; लगाम आवश्यक

महासभा के उपाध्यक्ष एवं विसर्जन योजना के राष्ट्रीय प्रभारी श्री हीरालाल मालू ने समाज में तलाक, परिवार-विघटन, पलायनवाद आदि गंभीर पारिवारिक व सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि समय रहते हुए इन सब पर लगाम लगाना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा स्थिति अनियंत्रित हो जाएगी। उन्होंने कहा कि सभाओं के पदाधिकारियों को तेरापंथी परिवारों में घर-घर

जाकर उनकी सार-संभाल लेनी चाहिए एवं उनकी कोई समस्या हो तो उसके समाधान का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए उन्हें चारित्रात्माओं के संपर्क में लाया जाए, ताकि उनमें कोई बदलाव आ सके।

तीन दिनों का सार :
अणुव्रत व नया मोड़—महासभा अध्यक्ष

महासभा अध्यक्ष श्री जसकरन चौपड़ा ने इस त्रिदिवसीय सम्मेलन का सार प्रस्तुत करते हुए कहा कि दो नए आयामों की जिम्मेदारी महासभा को प्राप्त हुई है—(1) अणुव्रत के कार्य को गति प्रदान करना तथा (2) नया मोड़ पर पुनर्चिंतन के साथ प्रारंभ करना—ये दोनों कार्य सभाओं के माध्यम से किए जायेंगे। सभाओं के दायित्वों को स्पष्ट करते हुए श्री चौपड़ा ने कहा कि समाज में तलाक की समस्या एवं परिवारों के टूटने को कैसे रोका जाए—इस पर सभाएं ध्यान देंगी। समाज के प्रत्येक परिवार से बच्चे ज्ञानशालाओं में आएं—यह आवश्यक है। सभाओं के चुनावों में अनुशासन एवं संघीय गरिमा का ध्यान रखा जाएगा। सभा के अधिकारी व कार्यकारिणी सदस्य नशामुक्त होने चाहिए। अपने क्षेत्र के परिवारों की सार-संभाल सभा-पदाधिकारियों की जिम्मेदारी है।

अंत में उन्होंने—**निज पर शासन फिर अनुशासन** के नारे को महत्त्व देते हुए सुधार की प्रक्रिया की शुरुआत स्वयं से करने की बात कही।

महामंत्री चोरड़िया की कृतज्ञता

महासभा के महामंत्री श्री बिनोद कुमार चोरड़िया ने आभार ज्ञापन के क्रम में सर्वप्रथम विभिन्न सत्रों में सान्निध्य एवं पाथेय प्रदान कराने हेतु पूज्यवरों एवं चारित्रात्माओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। त्रिदिवसीय सम्मेलन में विभिन्न व्यवस्थाएं उपलब्ध करवाने में 'आचार्यश्री महाप्रज्ञ प्रवास व्यवस्था समिति', लाडनूं; 'तेरापंथी सभा', लाडनूं एवं जैन विश्व भारती के अधिकारियों के विशेष सहयोग हेतु आभार ज्ञापित किया। श्री चोरड़िया ने सम्मेलन के प्रायोजकगणों के सहयोग हेतु भी आभार ज्ञापित किया। व्यवस्थाओं के नियोजन में श्री सुरेंद्र नाहटा (दिल्ली), श्री बाबूलाल सुराणा (कोलकाता), श्री जतनमल गेलड़ा (कोलकाता), श्री पवन सुराणा (कोलकाता), श्री संपतमल बैंगानी (कोलकाता), श्री बच्छराज बैद (कोलकाता), श्री राजेश बोहरा (लाडनूं), श्री भूपेंद्र श्यामसुखा (कोलकाता), श्री बिनोद संचेती (कोलकाता) सहित अनेक कार्यकर्ताओं का सहयोग एवं सेवाएं प्राप्त हुईं—महामंत्री ने उपरोक्त तथा ज्ञात-अज्ञात रूप से सहयोगी सभी महानुभावों के सहयोग एवं सेवाओं हेतु आभार ज्ञापित किया तथा उपस्थित प्रतिनिधियों को सहभागिता हेतु धन्यवाद दिया।

महासभा के उपाध्यक्ष श्री जसराज बुरड़ ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

मंगलपाठ से सम्मेलन संपन्न

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने उद्‌बोधन प्रदान करते हुए कहा कि सम्मेलन में मिलन, विचारों के आदान-प्रदान एवं महत्त्वपूर्ण निर्णयों के साथ गुरुओं के दर्शन का सुअवसर भी प्राप्त हो जाता है। उन्होंने त्रिदिवसीय सम्मेलन में प्राप्त पाथेय को अपने-अपने क्षेत्रों में जाकर उस पर कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। युवाचार्यप्रवर के मंगलपाठ के साथ सम्मेलन सानंद संपन्न हुआ।

त्रिदिवसीय सम्मेलन का संयोजन महासभा के राष्ट्रीय संयोजक श्री भंवरलाल सिंघी ने कुशलतापूर्वक किया। ❖

प्रस्तुतकर्ता : **बिनोदकुमार चोरड़िया**

तालीम का मतलब क्या है?

पृष्ठ 48 का शेष

यही गूंज रहा था—संप्रतिवान—हवाले कर दिया। संप्रतिवान का अर्थ मुझे कुछ इस तरह याद हुआ कि आज भी नहीं भूला।

उस दिन रटते-रटते कुछ इतने शहतूत खा गया कि कई दिन तक पेट खराब रहा। घर में किसी को मालूम नहीं पड़ा कि यकायक मेरा पेट क्यों खराब हो गया। मेरी मां ने मुझे गोद में ले लिया और कहने लगी—'बेटा इतनी पढ़ाई भी किस काम की?'—आज मुझे मां के भोलेपन पर ममता आती है और अपनी बेवकूफी पर हंसी। रटने पर इतना जोर देने के बजाय अगर समझ-बूझ कर पढ़ता तो एक शब्द के लिए न तो इतनी माथा-पच्ची करनी पड़ती और न ही पेट खराब होता। ❖

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

Om Bhikshu

Jai Tulsi

With best compliments

Pannalal Baid
Sobhag Devi Baid

FRIENDSHIP OF THOSE WHOM WE SERVE IS FOUNDATION OF OUR PROGRESS

BAID LEASING AND FINANCE CO LTD

3, Jaipur Towers, Opp All India Radio
M.I. Road, JAIPUR 302001

Ph : +91 141 2363358 2363359
Email : baidauto@hotmail.com

•

TRADESWIFT

(The Commodity and Share Broker)

Member : NSE MCX NCDEX NMCE
'Baid House', 1, Taranagar, Ajmer Road, JAIPUR 302006

Ph : +91 141 2221234 2224553 2224793
Email : contact@tradeswift.net

BAID ART WORLD

1, Usha Plaza
M.I. Road, JAIPUR 302001
Ph : +91 141 2371767 3299375

जैन भारती, अक्टूबर, 2009
प्रेषण दिनांक 28 सितंबर, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।